सन्त पत्रावली

भाग–२

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा) २८११२१

सन्त पत्रावली

• भाग–२ •

(मानव सेवा संघ के प्रवर्त्तक ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी
श्रीशरणानन्द जी महाराज की अमृत वाणी)

प्रकाशक :

मानव–सेवा–संघ

वृन्दावन–२८११२१ (मथुरा)

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.
पिन–२८११२१

सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संस्करण :
४००० प्रतियाँ
जनवरी, १९९७

मूल्य : Rs 25

मुद्रण–संयोजन :
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन
दूरभाष :.४४२४१५, ४४३४१५

प्रकाशकीय

जिस मार्ग से महापुरुष गमन करते हैं, सर्व साधारण के लिए वही श्रेष्ठ एवं अनुसरणीय है– महाजनो येन गतः स पन्थाः। ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीमहाराजजी ने अपने जीवन में स्वयं सत्य का साक्षात्कार कर जिस पथ का निर्माण किया वह संघ की साधन–पद्धति के नाम से अभिहित है। वे सन्तों की उज्ज्वल परम्परा के एक अनुपम रत्न थे, जिन्होंने जीवन के सत्य को जस–का–तस बे–लाग साधकों के सम्मुख रखा। उनके श्रीमुख से निःसृत आप्त वाक्य सत्पथ के अनुगामियों के लिए दीप–स्तम्भ हैं।

श्रीमहाराजजी के सम्पर्क में आये महानुभावों को विदित ही है कि उनमें जीवन की गूढ़–से–गूढ़ समस्याओं के स्वतःस्फूर्त एवं समुचित समाधान प्रस्तुत कर देने की अद्‌भुत क्षमता थी। साधकों के प्रश्न करते ही वे अविलम्ब उसका ऐसा अनूठा समाधान प्रस्तुत कर देते थे कि प्रश्नकर्त्ता अवाक् रह जाता। अपने जीवन–काल में उन्होंने अनेक सत्याभिलाषियों को जीवन की राह दिखायी।

विभिन्न सत्संग समारोहों एवं सत्‌चर्चा–आयोजनों के अवसरों पर दिये व्याख्यानों के अतिरिक्त पत्रों के माध्यम से भी

श्रीमहाराजजी ने अनेक साधकों की मानसिक गुत्थियों को सुलझाया। इन पत्रों का एक संकलन पूर्व में 'सन्त–पत्रावली भाग १' के रूप में प्रकाशित हो चुका है, जिसमें सन् १६५० तक के पत्र सम्मिलित किये गये थे। सन् १६५० से लेकर लगभग श्रीमहाराजजी के भौतिक कलेवर त्यागने के समय तक के पत्रों का संकलन 'सन्त–पत्रावली भाग २' के रूप में प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत है। विवेक की प्रखर प्रज्ञा से प्रकाशित इन पत्रों की भाषा सरल, सरस एवं सुबोध है तथा शैली प्रवहमान और मौलिक। श्रीमहाराजजी का शब्द–चयन उत्कृष्ट कोटि का एवं सुरुचिपूर्ण है। व्यक्तिगत कठिनाइयों के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये पत्रों के उत्तर–स्वरूप जो सार्वकालिक एवं सार्वभौम समाधान श्रीमहाराजजी ने प्रस्तुत किये वही इस पत्रावली का कलेवर है। हृदय को स्पर्श करने वाले श्रीमहाराजजी के ये आप्त वचन वे शाश्वत स्वर हैं जिनकी अलौकिक आभा कालजयी है।

सत्य के शोधकों के लिये ये वाक्य–दीप पथ का अवलम्ब सिद्ध होंगे, इसी आशा एवं विश्वास के साथ यह पत्र–पुष्प प्रेमियों की सेवा में समर्पित है।

वृन्दावन
२५ दिसम्बर १६७६

निवेदक–
प्रकाशक, मानव सेवा संघ

सन्त–पत्रावली

(१)

सूरत

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ११–१–१९५१

बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । जब प्राणी अपने पर अपनी समझ का प्रयोग नहीं कर पाता, अर्थात् जानी हुई दुर्बलताओं को प्रमादवश नहीं मिटाता तब पराये दोष देखने में अपने को लगाता है । ऐसा क्यों करता है ? इसलिए कि मेरे जैसे संसार में बहुत से हैं । ऐसा करने से मिथ्या सन्तोष हो जाता है और कमजोरियाँ दीर्घ काल तक के लिए सुरक्षित बनी रहती हैं और परस्पर में यह सिद्धान्त प्रचलित हो जाता है कि 'तू न कहे मेरी और मैं न कहूँ तेरी', जिससे दुर्बलताओं को रखते हुए हम लोग संगठित बने रहते हैं । अपनी दृष्टि में आदर के योग्य न होते हुए भी अपने को आदर के योग्य मान लेते हैं । इस भूल से सच्ची वेदना विकसित नहीं होती । वेदना के बिना आसक्ति नहीं मिटती, जो पतन का मूल है । अब आप समझ गये होंगे कि प्राणी पराये दोष क्यों देखता है । यदि हम यह चाहते हैं कि हम किसी के दोष न देखें तो हमें यह व्रत लेना होगा कि हम अपनी समझ अर्थात् विवेक का प्रयोग केवल अपने पर ही करेंगे, किसी और पर नहीं । सर्व–समर्थ प्रभु ने दूसरों पर प्रयोग करने के लिए हमें हृदयशीलता अर्थात् क्षमा दी है, जिसका मोहवश हम प्रयोग अपने पर करते हैं । किसने अपने दूषित मन को क्षमा नहीं किया ? यदि नहीं किया तो मन दूषित कैसे रहा ?

देखो भैया ! कमजोरी को कमजोरी जान लेने पर मन में एक अजीब पीड़ा उत्पन्न होती है, जो कमजोरी को मिटाकर अन्त में स्वयं मिट जाती है । आजकल तो सभ्यता के नाते अपने को कमजोर मान लेते हैं, सच्चाईपूर्वक नहीं मानते । जितनी हानि पराये दोष देखने

से होती है उतनी स्वयं दोष करने से नहीं होती, अर्थात् दोष देखने वाला दोषी से भी अधिक दोषी है । धर्मानुसार हित–बुद्धि से दोष का परिचय कराने के लिए गुरुजन शिष्यों के, माता–पिता सन्तान के, सद्मित्र मित्र के, परस्पर में दुःखी हृदय से दोष का वर्णन कर सकते हैं अभिमान का रस लेने के लिए नहीं, केवल कर्त्तव्य–बुद्धि से, वह भी तब, जब वह दोष अपने में न रहा हो और अपने समान ही उन लोगों से प्रियता हो जिनके दोषों का वर्णन करना है । अपने अभिमान को सुरक्षित रखने के लिए और कमजोरों का एक दल बनाने के लिए दोष–दर्शन नहीं करना चाहिए ।

मानव को कितने धन की आवश्यकता है, यदि इस पर विचार किया जाय तो यही समझ में आता है कि जितने से बालक–बालिकाओं का शिक्षण और पोषण हो जाय । धन की लालसा मिटाने के लिए काम पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है । काम के रहते हुए अर्थ–लोलुपता कदापि नहीं मिट सकती । अर्थ से वही मुक्त हो सकता है जो काम से मुक्त हो जावे । दर्जनों बच्चे पैदा करते रहना और धन से ऊपर उठने की बात सोचना अपने को धोखा देने के सिवाय और कुछ नहीं है । जितेन्द्रियता, सेवा तथा सत्य की खोज अर्थात् ईश्वर–चिन्तन ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों–त्यों धन की लालसा स्वयं मिटती जाती है । ऐसा मेरा मत है । सर्व–समर्थ प्रभु आप लोगों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनायें, यही मेरी सद्भावना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका

.....

(२)

अहमदाबाद

स्नेहमयी लाड़ली बिटिया, १२–२–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

मन को स्थिर तथा शान्त रखने से ही प्रतिकूलता अनुकूलता में बदलेगी । देखो बेटी ! सच तो यह है कि निर्मोहता के बिना प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता । इसी कारण मानसिक

अशान्ति बढ़ जाती है । अतः मोह–रहित होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए । भगवत् नाते सेवा करना अपना कर्त्तव्य है, किन्तु जो नहीं कर सकते उसके लिए चिन्तित रहना और किसी को अपना मान लेना मोह तथा अकर्त्तव्य है । मन के अस्वस्थ होने पर शरीर स्वस्थ नहीं रह पाता । शरीर के स्वस्थ न रहने से आवश्यक कार्य पूरा नहीं हो पाता । इस दृष्टि से मन का स्वस्थ रखना परम अनिवार्य है । बुरे संकल्पों को त्याग, शुद्ध संकल्प को पूरा कर, निस्संकल्प हो जाने से मन स्वस्थ हो जाता है । अपनी सारी इच्छाएँ सर्व–समर्थ श्रीहरि के पतितपावन श्रीचरणों पर चढ़ा देना चाहिए । ऐसा करने पर निर्बलता मिट जायगी और प्रभु की निर्भरता प्राप्त होगी। जो प्राणी उनके निर्भर हैं, वे ही मानसिक रोग से मुक्त हैं । अतः सच्चाईपूर्वक उनपर निर्भर होने के लिए प्रयत्न करती रहो । जो बल किसी वस्तु तथा व्यक्ति एवं किसी परिस्थिति पर निर्भर है वही निर्बलता है । कर्त्तव्यनिष्ठ तथा आस्तिक भाव से इस निर्बलता का नितान्त अन्त कर दो । बस, सभी उलझनें सुलझ जायेंगी ।

मेरा यह विचार है कि आलसी 'राम राम' नहीं कह सकता, 'दैव दैव' कह सकता है, क्योंकि 'राम राम' कहने के लिए तो सरल विश्वासपूर्वक आस्तिक बुद्धि होनी चाहिए, जिसकी उपलब्धि भौतिकवाद का अन्त होने पर होती है । दैव का अर्थ है होनहार । होनहार का सच्चा अर्थ है विनाश, क्योंकि वास्तव में होना क्या है ? उत्पत्ति का विनाश । होनहार के आधार पर प्रयत्न छोड़ना एक विजय–कामनायुक्त प्राणी को अभीष्ट नहीं होता। तो फिर श्रीलक्ष्मणजी का कहना तो उचित ही है कि 'दैव दैव आलसी पुकारा' । इसका वास्तविक अर्थ क्या हुआ कि प्राप्त शक्ति का सदुपयोग न करते हुए विजय–कामना होने पर भी 'दैव दैव' कहना आलसी का काम है, वीर का नहीं । सर्व कामनाओं का अन्त होने पर दैव के आश्रय शरीर छोड़ देना संन्यासी का धर्म है, क्षत्रिय का नहीं । उस समय राघवेन्द्र सरकार तथा श्रीलक्ष्मणजी विजय पाने का पार्ट कर रहे थे। इस अवसर पर श्रीलक्ष्मणजी ने ठीक ही कहा है । दूसरी बात यह है कि हमारे राघवेन्द्र बड़े ही नीतिज्ञ हैं । श्रीलक्ष्मणजी द्वारा वीरत्व

क़ा प्रादुर्भाव कराना ही वास्तविक राजनीति थी, क्योंकि संगठन सुरक्षित रखने के लिए साथियों पर उत्तरदायित्व डाल देना अनिवार्य होता है.....।

तुम्हारा पिता

.....

३

बलरामपुर

स्नेहमयी विवेकमती प्रिय पुत्री, २२–५–१६५१

बहुत–बहुत स्नेहाशीष ।

.....प्राणी में काम स्वाभाविक विद्यमान है । इसे मनोविज्ञानी आदि रस बताते हैं, पर वह अनित्य है । प्राणी की माँग नित्य रस की है, जिसकी उपलब्धि काम का अन्त होने पर ही सम्भव है । काम का वास्तविक रूप सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य है । यदि काम न रहे तो शरीर की उत्पत्ति ही न हो, क्योंकि शरीर की उत्पत्ति में मूल काम है, पर विवेकी जन उस काम को राम की अभिलाषा से भस्मीभूत कर देते हैं । देहाभिमान से काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान गल जाने पर काम का अन्त होता है । देहाभिमान गलाने के लिए शरीर को संयम का मन्दिर बना लेना अनिवार्य है । संयम का जन्म भीतर के मन से होता है । ऊपर के मन से जो दिखाई देता है भीतर के मन में उससे कुछ भिन्न ही निकलता है ।

जिन महानुभावों के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास है उनकी धर्मानुकूल आज्ञा का पालन करना ही उनकी सच्ची सेवा तथा आदर का प्रदर्शन है । उपर्युक्त वाक्यों से तुम मानव की वस्तु–स्थिति का परिचय प्राप्त कर सकोगी । देखो बेटी, जब यह निश्चित है कि शरीर काम से बना है तो उसमें काम का होना स्वाभाविक है, पर उस काम के अनेक रूप हैं । छोटे–छोटे बालकों के प्रति जो स्नेह प्रदर्शित होता है वह भी काम का ही एक शुद्ध रूप है, पर उसका प्रभाव एक पक्ष में ही अधिक होता है । बालक के मन में उसकी प्रतिक्रिया केवल हृदय तक रहती है, इन्द्रियों तक नहीं । पिता–भ्राता के मन में भी हृदय की प्रबलता होती है, पर शरीर का पूर्ण विकास होने पर उन

चेष्टाओं का प्रभाव इन्द्रियों तक न पहुँचे इसके लिए कोई स्थायी रुकावट नहीं हो सकती । जब तक भाव का आदर है तब तक हृदय में स्नेह का संचार होगा और इन्द्रियों में शुद्धता रहेगी, पर बेटी, देहाभिमान–युक्त स्नेह मोह में परिणत होकर कामाग्नि को प्रज्ज्वलित कर सकता है । हाँ, पर कब और कितना, यह नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार नदी का शुद्ध जल किसी गड्ढे में आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर तथा वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध हो मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। स्नेह प्राणी की परम आवश्यकता है, पर उसे किसी में आबद्ध नहीं करना चाहिए । हृदय में स्नेह की गंगा लहराती रहे, पर उसके सामने कोई दीवार नहीं होनी चाहिए, जिससे वह टकरा जाय । साधक का आधार उसकी साधना और लक्ष्य है । प्राणी का लक्ष्य काम का अन्त कर राम से अभिन्न होना है । उसकी साधना भोग–इच्छाओं को राम की अभिलाषा में, स्वार्थ को सेवा में एवं असंयम को संयम में परिवर्तित कर देना है ।

तुम्हें अपने हरएक कार्य में जाग्रत तथा सावधान रहना है । प्रीति का उपयोग सर्व–समर्थ प्रभु के प्रति ही सम्भव है और शरीर का उपयोग दीन–दुखियों की सेवा में । देखो बेटी, जबतक मन अमन न हो जाए और इन्द्रियाँ स्वाभाविक सहज स्नेह में न डूब जायें तब तक भीतर–बाहर दोनों प्रकार के संयम की आवश्यकता है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा हितैषी

.....

(४)

नैनीताल

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ३१–५–१९५१

बहुत–बहुत प्यार ।

मधुर स्नेह तथा सरल ईमानदारी से हरा–भरा पत्र मिला । मेरे और तुम्हारे बीच में कृतज्ञता के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि हम सब एक खिलाड़ी के खिलौने हैं । अतः हमें और तुम्हें उन्हीं का

होकर रहना है और उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है । विवेकी जन आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करते ।

मेरे अपने विश्वासानुसार तो जबतक तुम मेरे साथ रहे मुझे बड़ा ही आराम मिला । मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध है । तुम अपने मन में किसी प्रकार की इन्फीरियर्टी (हीनभाव) मत उत्पन्न होने दो । सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का हो जाने पर देश–काल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती । सभी आस्तिक ऊपर से भिन्न–भिन्न होने पर भी भीतर से अभिन्न हैं । हमें और तुम्हें यही सीखना है और सिखाना है कि प्रत्येक कार्य के अन्त में जिसे कि उसी के नाते किया है उनकी अहैतुकी कृपा की बाट देखते रहें । यद्यपि उनकी गुणमयी माया प्राणियों को मोहित करती है, पर उनकी कृपा उन्हीं को मोहित करती है । अतः जिन प्राणियों ने उनकी कृपा का सहारा लिया वे सभी पार हो गये ।

मनरूपी क्षेत्र में भिन्न–भिन्न प्रकार के संकल्प उठते रहते हैं। उनमें से जो संकल्प दृढ़ तथा स्थिर रहते हैं वे अवश्य पूरे हो जाते हैं । जिस प्रकार किसान अपने बोये हुए खेत में से घास निकाल देता है उसी प्रकार विचारशील साधक मन में से बुरे संकल्पों को निकाल देता है । ऐसा करते ही भले संकल्प स्वतः सबल तथा स्थायी हो जाते हैं, जिनका पूरा होना स्वाभाविक है । पर सच्चा आस्तिक संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होता, प्रत्युत निःसंकल्प होकर व्याकुलतापूर्वक हृदय से प्रभु को पुकारता है । व्याकुलता की अग्नि से सभी दोष एवं निर्बलताएँ भस्मीभूत हो जाती हैं, यह परम सत्य है ।

तुम्हारा हितैषी

.....

(५)

नैनीताल

चिरंजीव लाड़ली बेटी, ३१–५–१९५१

बहुत–बहुत प्यार ।

तुम अनेक बार सुन चुकी हो कि विवेकी जन प्रत्येक घटना के

अर्थ को अपनाते हैं और अपने कर्त्तव्य को भलीभाँति जान लेते हैं । कुटुम्बी जनों की व्यस्तता तथा परेशानी को देखकर तुम्हारा जी घबराता है । तुम्हारे मन में खीज होती है । इस घटना से तुमने क्या सीखा ? यदि तुम्हारा जन्म न होता तो यह कुछ न होता और यदि मानव के मन में काम न होता तो किसी का जन्म न होता । इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि कोई दुःखी होता है, उसका मूल काम है । उस बैरी काम का अन्त करने के लिए ही धर्म ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार के प्रधान मार्ग बताये हैं । अब तुम्हें भी प्रवृत्ति–मार्ग का अनुसरण कर काम का अन्त करना है । तुम स्वयं ऐसा व्रत ले लो कि यह मेरा अन्तिम जन्म होगा । इतना ही नहीं, यदि मेरे सन्तान होगी तो वह भी किसी अन्य की सन्तान न बनेगी, जैसा कि मदालसा ने किया था ।

तुम्हारी खीज सजीव होनी चाहिए–निर्जीव नहीं । जो प्राणी अनुकूलता में हर्षित और प्रतिकूलता में खिन्न हो जाते हैं उनकी खीज निर्जीव होती है । तुम्हें अपने कुटुम्बी जनों से यही सीखना है कि वे कितना वात्सल्य प्रेम करते हैं, जो यथासमय तुम्हें भी करना है, पर मोह–रहित होकर । प्राणी तभी खीजता है जब उसकी इच्छाएँ, शक्ति से अधिक हो जाती हैं । तुम सदैव इस बात का ध्यान रखना कि इच्छाएँ शक्ति से अधिक न हों, तब तुम्हें कभी खीज न होगी । वास्तव में तो शक्ति के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना है । शान्त चित्त से विवेकपूर्वक मोह तथा काम की महिमा देखती रहो, खीजो नहीं ।

विवेकी जन अपने को शरीर नहीं मानते और न शरीर को अपना मानते हैं । ऐसा करते ही अहंता और ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्वासना आ जाती है । वासना–रहित होते ही अपने में ही अपने का अनुभव होता है और फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। पर ऐसा वे ही प्राणी कर पाते हैं जो अपने कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हैं और अपने अधिकारों को भूल जाते हैं । अतः प्रत्येक मानव को अधिकार–शून्य कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाना है। वह तभी सम्भव है जब हम वर्तमान का आदर करते हुए प्रत्येक कार्य भगवान् के नाते पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर

कर सकें और कार्य के अन्त में व्याकुलतापूर्वक पतितपावन समर्थ श्रीहरि को पुकारें, अर्थात् तन से सेवा और मन से चिन्तन करते रहें।

तुम्हारा पिता

.....

६

रानीखेत

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ७–६–१९५१

माने हुए सम्बन्ध तोड़ दो । भूतकाल भूल जाओ । अपने ही में अपने प्रीतम का अनुभव करो । आगे–पीछे के चिन्तन को त्याग कर नित–नव जीवन का अनुभव करो । अपने को शरीर कभी मत समझो । वासना–रहित, राग–द्वेष–रहित हृदय को बना दो, तभी प्रीति की गंगा लहरायेगी ।

प्रेमास्पद से देश–काल की दूरी नहीं है । अतः उसके लिए भविष्य की आशा न करके वर्तमान में ही अपना लो । अपना सब कुछ देते ही वे मिल जाते हैं । किसी और को अपना मत मानो । संसार से न्याय तथा प्रेम की आशा मत करो । सच्चाई से निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उससे तुम्हारी जातीय एकता है और संसार से आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

७

रानीखेत

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ८–६–१९५१

बहुत–बहुत प्यार ।

.....तुम्हारी हार्दिक लालसा सर्वत्र अपने प्रेमास्पद के दर्शन करने की है । पर भैया, ऐसा तब हो सकता है जब अपने को स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से असंग करलो । देहाभिमान होते हुए किसी को भी अपने प्रीतम का अनुभव नहीं हुआ । अतः विवेकपूर्वक अपने को शरीर से अलग करलो । शरीर द्वारा होने वाले प्रत्येक कर्म

को अपना कर्म मत समझो । शरीर को तो संयम–मन्दिर बना लो तथा उसे समाज की सेवा में लगा दो । ऐसा करने से निर्वासना आ जायगी ।

शरीर से असंग होने के लिए या तो विचाररूपी सूर्य का उदय हो अथवा हृदय में व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित हो जावे । वे लोग बड़े भाग्यशील हैं जिनका मन व्याकुल है । हृदय में उत्पन्न हुई व्याकुलता इन्द्रियों द्वारा छलकने न पाये । व्याकुलता वही सार्थक सिद्ध होती है जो उत्तरोत्तर बढ़ती रहे..... ।

तुम्हारा हितैषी

.....

८

रानीखेत

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री, ८–६–१९५१

सादर सप्रेम यथोचित ।

सरल विश्वास तथा ईमानदारी से हरा–भरा पत्र मिला । यथेष्ठ विश्राम तथा एकान्त वास की भावना से यहाँ आ गया हूँ, क्योंकि शारीरिक अस्वस्थता और कार्यक्रमों की व्यस्तता काफी दिनों से चल रही थी । यहाँ एक उदार सभ्य सज्जन के साथ ठहरा हूँ । यदि कोई विशेष घटना नहीं हुई तो कुछ दिन यहीं रहूँगा ।

मोह–रहित स्नेह की एकता हो जाने पर देश–काल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रहती, क्योंकि शरीर–भाव गल जाता है, तभी निर्मोहता प्राप्त होती है । उससे पूर्व सच्चा स्नेह नहीं समझना चाहिए ।

विवेक का उदय और देहाभिमान की निवृत्ति युगपद् है, अर्थात् विचाररूपी सूर्य उदय होते ही अनन्त काल का देहाभिमानरूपी अंधकार वर्तमान में ही मिट जाता है । उसके लिए शनैः–शनैः अभ्यास नहीं करना पड़ता । यह भलीभाँति समझलो कि प्रत्येक अभ्यास का जन्म शरीर–भाव से ही होता है और विचार से शरीर–भाव गल जाता है । शरीर–भाव गलते ही निर्वासना आ जाती है और फिर अपने ही में अपने प्रेमास्पद का अनुभव होता है, जो मानव–जीवन का चरम लक्ष्य है । तुम्हारे पीछे भले ही संगठन चले, पर तुम संगठन के पीछे न चलो । अपने विवेक–बल तथा चरित्र–बल से समाज की सेवा करते

हुए उत्तरोत्तर आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रयत्नशील बनी रहो ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा हितैषी

.....

(६)

रानीखेत

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री, १३–६–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

संयोग–वियोग अदृश्य के अधीन हैं, प्राणी केवल भावना करने मात्र में ही स्वाधीन हैं । यदि तुम स्वधर्मनिष्ठ होकर जीवन व्यतीत करती हो तो मुझसे दूर रहकर भी सदैव मेरे साथ हो, क्योंकि धर्म ही प्राणी का नित्य साथी है । तुम अपने कर्त्तव्य से अपने प्रियजनों के अधिकारों को सुरक्षित रखती हुई प्रत्येक कार्य के अन्त में सहज भाव से सर्व–समर्थ प्रभु का चिन्तन करने का स्वभाव बनालो । ऐसा करने से तन, सेवा में और मन, प्रभु में लग जाएगा ।

संसार चिन्तन–योग्य नहीं है, क्योंकि चिन्तन उसका करना चाहिए जो उत्पत्ति–विनाश–रहित हो, जिसमें जड़ता का दोष न हो, जिससे देश–काल की दूरी न हो, उसकी उपलब्धि चिन्तन मात्र से होती है । संसार तो उसके विपरीत विनाश–युक्त, जड़ता आदि दोषों से भरा है । उसकी सेवा करना आवश्यक है, चिन्तन नहीं । संसार का चिन्तन घोर आसक्ति उत्पन्न करता है, जो दुःख का मूल है । आशा है कि अब तुम भलीभाँति समझ गई होंगी कि चिन्तन करने योग्य केवल श्रीहरि हैं संसार नहीं ।

तुम्हारा पिता

.....

(१०)

.....

मे निज–स्वरूप परम प्रिय, १५–६–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

.....वासनाओं का अन्त होते ही जीवन और मृत्यु में भेद

नही रहता, क्योंकि अपना शरीर से सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है और प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर अमर हो जाता है—यह निर्विवाद सिद्ध है । अतः विवेकपूर्वक शरीर से अलग होकर सहज भाव से ही अपने प्रेमास्पद को पाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसके लिए किसी प्रकार की गति तथा कर्म की आवश्यकता नहीं है, बल्कि सब प्रकार की चेष्टाओं का अन्त कर अचिन्त होना अनिवार्य है । जिसने चिन्तन का अन्त किया उसकी सहजावस्था स्वतः हो जाती है । अपने प्रीतम से भिन्न का विश्वास तथा सम्बन्ध मिट जाने पर चिन्तन मिट जाता है । शरीर आदि कोई भी वस्तु विश्वास करने योग्य नहीं है और न कोई अपनी मानने योग्य है । अतएव प्रभु से भिन्न नहीं है कोई जिसका, वही सच्चा आस्तिक तथा भक्त है । इतना ही नहीं, विचारशील की दृष्टि में तो प्रभु अपने से अभिन्न हैं, तो फिर किसी प्रकार के चिन्तन के लिए स्थान ही कहाँ रहा !

महान पुरुषों की सेवा से चित्त बड़ी सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अपने भक्त, प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं । अतः जो साधक विवेकपूर्वक उनके भक्तों की सेवा करते हैं उन्हें वे स्वयं प्रेम करने लगते हैं । अब तुम यह भलीभाँति समझ गई होंगी कि भक्त तथा सन्तों की सेवा का कितना महत्त्व है !

.....कल्पना करो कि शरीर न रहे तो क्या किया जाय । इस बात के पूछने में संकोच न करना, क्योंकि वीतराग पुरुष तो जीवित ही मृतवत् होते हैं । यह भी पूछ लेना कि उनके सामान का क्या किया जाय । उनके मन में कोई भी बात जमा नहीं रहनी चाहिए । रोगावस्था में उसी प्रकार निश्चिन्त रहना चाहिए जिस प्रकार सब काम समाप्त करके चिन्तन के लिए बैठते हैं और मृत्यु की उसी प्रकार प्रतीक्षा करना चाहिए जिस प्रकार सिगनल होने पर गाड़ी पर बैठने वाले मुसाफिर प्रतीक्षा करते हैं । मृत्यु के समान और कोई हितकर वस्तु नहीं है । उसके आने पर ही आस्तिक प्राणी अपने इष्टलोक अथवा विदेहमुक्ति हो पाता है, जो मानव का परम लक्ष्य है ।

तुम्हारा हितैषी

.....

(११)

रानीखेत
१७–६–१६५१

स्नेहमयी.....,

सादर सप्रेम यथोचित ।

तारीख १२ जून का पत्र मिला । तुम यह जानना चाहती हो कि किस उपाय से चिन्ता दूर हो जाए । उसका सबसे सुगम उपाय यही है कि सच्चाईपूर्वक ईमानदारी से अपने सभी संकल्प सर्व–समर्थ श्रीहरि के चरणों में चढ़ा दो और मोह तथा ममता को विचारपूर्वक मिटा दो । यह भलीभाँति समझ लो कि जब तक प्राणी कामना पूरी करना चाहता है तब तक चिन्ता दूर नहीं होती । चिन्ता–रहित वही प्राणी होते हैं जो कामनाओं का अंत कर देते हैं । सभी कार्य यथासमय अपने आप होते हैं । प्राणी मोहवश चिन्ता करता है । नीचे लिखी चौपाई का सम्पुट लगाकर श्रीरामायण का पाठ किया करो–

दीनदयाल विरद संभारी ।
हरहु नाथ मम संकट भारी ।।

दो सम्पुट की चौपाई के बीच में एक रामायण की चौपाई होनी चाहिए ।

सभी कुटुम्बी जनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना । पुनः तुमको बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(१२)

रानीखेत
२३–६–१६५१

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

सादर सप्रेम यथोचित ।

तारीख १५ जून का लिखा हुआ पत्र यथासमय मिला । निःसन्देह मेरा हृदय आप लोगों के मधुर स्नेह का ऋणी है । किसी ने ठीक

ही कहा है कि आस्तिक भक्त तथा प्रभु की कृपा दोनों ही अकारण स्नेह रखते हैं । इतना ही नहीं, स्वयं अपनी करुणा से अनधिकारियों को भी अधिकारी बनाकर अपना लेते हैं । पर क्या किया जाय, संयोग–वियोग अदृश्य के अधीन हैं । हम आस्तिकों को यही सीखना और सिखाना है कि जो कुछ हो रहा है उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। वास्तव में तो शरीर विश्वास की वस्तु ही नहीं है । इससे असंग होकर अपने प्रेमास्पद का अनुभव करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है । क्षणभंगुर शरीर में चिपक जाना और इसके सुख–दुःख में आबद्ध होना प्राणी की परम भूल है । इस भूल का विवेकपूर्वक अंत करना अनिवार्य है । विवेक–रूपी सूर्य के उदय होते ही मोह–रूपी अन्धकार सदा के लिए मिट जाता है और हृदय में स्नेह की गंगा स्वतः लहराने लगती है । इसी कारण प्राणी विवेक का आदर करते हैं । निज ज्ञान के अनुरूप जीवन होने पर विवेक अपने आप उदय होता है । आपकी स्नेहमयी गोद तथा आपके पतितपावन श्रीचरणों में निवास उन्हीं प्राणियों को सम्भव है जिन पर आपकी महती कृपा हो । आपकी कृपा के बिना कोई आपको पा ही नहीं सकता, तो फिर मुझ जैसे साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या है । जब आपकी कृपा होगी तभी मिलन होगा ।

वास्तव में तो जिन पर आपकी कृपा हो जाती है उनसे और आपसे देश–काल की दूरी शेष नहीं रहती । वे अपने में आपको और आपमें अपने को नित्य अनुभव करते हैं ।

तुम्हारा

.....

(१३)

रानीखेत

चिरंजीव लाड़ली बेटी, २६–६–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

.....ईमानदारी को सुरक्षित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील बनी रहना । निज दोषों का ज्ञान जागृति उत्पन्न करता है, पर कभी–कभी निज गुणों का अभिमान प्रमाद भी उत्पन्न कर देता है।

इसी कारण विवेकीजन निज दोषों को देखते हैं और उनके त्याग का दृढ़ संकल्प करते हैं । दोषों को देखकर केवल उनका चिन्तन नहीं करते, प्रत्युत व्याकुलतापूर्वक दृढ़ता के साथ उनका त्याग करते हैं और प्रार्थना तथा प्रायश्चित द्वारा निर्दोषता की स्थापना कर लेते हैं। भूतकाल भूल जाते हैं और वर्तमान का सदुपयोग करते हुए भविष्य को आशाजनक बना लेते हैं ।

सुख–दुःख दिन–रात के समान आने–जाने वाली वस्तुएँ हैं । विवेकीजन उन दोनों को साक्षी भाव से देखते हुए सदैव प्रसन्न रहते हैं । हमें भी यही सीखना और सिखाना है.....।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

.....

(१४)

रानीखेत

परम आस्तिक चिरंजीव लाड़ली बेटी, ३०–६–१९५१

बहुत–बहुत प्यार ।

इतने दिन सत्संग तथा सम्पर्क में रहने के पश्चात् भी तुम क्षणभंगुर तथा अनेक विकारों से पूर्ण शरीर को स्थिर देखना चाहती हो, यह कहाँ तक विवेकयुक्त बात है ? जो दशा लिखाते समय है वह पढ़ते समय तक रहेगी, इसका क्या विश्वास ! प्यारी बेटी ! शरीर के बनने तथा बिगड़ने अथवा रहने तथा न रहने में विवेकीजन सम ही रहते हैं, क्योंकि वे भलीभाँति अनुभव कर लेते हैं कि शरीर से जातीय एकता नहीं है, केवल काल्पनिक सम्बन्ध मात्र है, जिसका विचार मात्र से ही अन्त हो जाता है । तो फिर शरीर के लिए चिन्ता करना तथा घबरा जाना कहाँ तक उचित है ? स्वंय विचार करो । शरीर से असंग होकर वासनाओं को त्याग कर्त्तव्यनिष्ठ बनी रहो । अविवेक तथा मोह का अन्त कर दो । तभी घबराहट का अन्त होगा। हृदय की कोमलता सेवा के लिए है, घबराने के लिए नहीं । वर्तमान का आदर करते हुए सदैव प्रसन्न रहो । धीरज, अलोभ, क्षमा और सत्य, इन चारों को जीवन बना लो । प्रत्येक कार्य में उत्साह तथा

श्रम एवं कार्यकुशलता अवश्य आनी चाहिए, तभी वर्तमान सरस तथा भविष्य आशाजनक हो सकता है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

.....

(१५)

रानीखेत

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी, ८–७–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

अब तुम एक नवीन जीवन में प्रवेश कर रही हो । जिस पवित्रता तथा शिक्षा–दीक्षायुक्त वीरतापूर्वक तुम ब्रह्मचर्य जीवन में सफल हुई हो उसी भाँति तुम्हें अब गृहस्थ जीवन सफल बनाना है ।

प्यारी बेटी, उन्हीं के नाते जिनकी तुम सब प्रकार से हो चुकी हो, पूज्या सासु, ससुर तथा अन्य प्रियजनों की यथेष्ट धर्मपूर्वक सेवा करना है । यह भलीभाति समझ लो कि अधिकार–लालसा–रहित सेवा करने से मन में पवित्रता तथा चित्त में प्रसन्नता एवं हृदय में निर्भयता स्वतः आ जाती है, यह निर्विवाद सिद्ध है । तुम्हें अपने प्राणेश की दासी, मित्र, मंत्री तथा प्रियजन बनकर रहना है । प्रत्येक प्रवृत्ति में कर्म–भेद होने पर भी प्रीति–भेद नहीं करना है । स्नेह तथा कर्त्तव्य सुरक्षित रखने के लिए बड़ी–से–बड़ी पतिकूलताओं को सहर्ष सहन करना है । स्नेह तथा कर्त्तव्य के बदले में सब कुछ दिया जा सकता है, किन्तु ये दोनों किसी के बदले में नहीं दिये जा सकते । यह सदैव ध्यान रखना है कि हृदय राग–द्वेष–रहित पवित्र प्रीति से भरा रहे और शरीर कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहे । तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नतार्थ मोह–रहित धर्मपूर्वक होनी चाहिए । सुख की अपेक्षा हित को अधिक महत्त्व देना चाहिए और व्यक्ति की अपेक्षा विवेक को अधिक आदर देना चाहिये । तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश में प्रीतिपूर्वक होनी चाहिए । विवेकयुक्त जीवन ही मानव–जीवन है । विवेक के बिना न किसी को शान्ति मिली, न सिद्धि–ऐसा महान् पुरुषों का मत है ।

देखो रानी, जन्म देने वाले माता–पिता से अधिक सासु–ससुर

की सेवा स्नेहपूर्वक करनी चाहिये और बहिन–भाई से अधिक ननँद तथा देवर–जेठ आदि प्रियजनों को सम्मान तथा स्नेह देना चाहिए, क्योंकि जन्म की अपेक्षा भाव का सम्बन्ध उत्कृष्ट होता है–

होएहु संतत पियहि पियारी ।
चिरु अहिबात असीस हमारी ।।
सासु ससुर गुरु सेवा करेहू ।
पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ।।

परस्पर में स्नेह सुरक्षित रखने के लिए एक दूसरों की निर्बलताओं को सहर्ष सहन कर लेना चाहिये । विश्वास करने योग्य केवल दो ही वस्तुएँ हैं– अपना कर्त्तव्य और प्रभु की कृपा । सर्व–समर्थ भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से तुम दोनों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनावे, यही मेरी सद्भावना है ।

योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से कर्ता में शुद्धता आ जाती है और फिर विचार तथा सरल विश्वास स्वतः उत्पन्न होता है । कामना–युक्त प्राणी सच्चाईपूर्वक प्रभु का हो नहीं पाता । अतः प्रभु की अहैतुकी कृपा की आवश्यकता प्रभु–विश्वास के लिए परम अनिवार्य है । उनका विश्वास प्रयत्न–साध्य नहीं है, केवल कृपा–साध्य है । सरल विश्वास के बिना कभी भक्ति–रस की उपलब्धि नहीं हो सकती । विचारपूर्वक प्रयत्न द्वारा प्राणी मुक्ति प्राप्त कर सकता है और पुण्य कर्म तथा तप द्वारा ऊँचे–ऊँचे भोग प्राप्त कर सकता है, किन्तु अहैतुकी कृपा के बिना भक्ति रस की प्राप्ति नहीं होती । ऐसी अनुपम कृपा तथा विश्वास को साधारण वस्तुओं के लिए उपयोग करना कृपा का अनादर है । शरीर के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनके लिए श्रमी जीवन होना चाहिये और अपने निज के लिए जिसकी आवश्यकता है उसके लिए उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय होना चाहिये । शरीर के लिए भोग की और अपने लिए प्रेम की परम आवश्यकता है । प्रेम प्रभु की कृपा तथा प्रेमियों के शुभ आशीर्वाद से और भोग पुण्य कर्म से प्राप्त करना चाहिए ।

हाँ, यह अवश्य है कि प्रभु की कृपा अनन्त है, अभिमान रहित भक्तों के लिए कल्पवृक्ष है, किन्तु अभिमानयुक्त प्राणी कृपा का आश्रय नहीं पाते । इस कारण जितने अंश में प्राणी अभिमान रखता है तो उतने अंश में उसे कर्म करना पड़ता है । अभिमान गल जाने पर उनकी कृपा सब कुछ करती है, ऐसा मेरा मत है । हम आस्तिकों को यही सीखना है कि दुःख अपनी भूल से और आनन्द प्रभु–कृपा से तथा सुख पुण्य कर्म एवं तप से मिलता है । अतएव सुख–भोग के लिए कर्मवीर तथा तपस्वी होना चाहिए एवं दुःख का अन्त करने के लिए प्रमाद का अन्त कर देना चाहिए ।

प्रत्येक कर्म फल देता है, यह प्राकृतिक नियम है, किन्तु प्रभु कृपा प्रसाद देती है, यह आस्तिकों का अनुभव है । प्रसाद से सभी दुःख मिट जाते हैं । सही कार्य करने से कर्ता ठीक रहता है । प्रत्येक कर्म का जन्म कर्ता द्वारा होता है । कर्ता में शुद्धता विवेक से आता है और विवेक की उपलब्धि विवेकी जनों के संग से होती है । विवेकीजनों का संग स्वधर्मनिष्ठा तथा प्रभु–कृपा से प्राप्त होता है । अतः शरीर से स्वधर्मनिष्ठ बनी रहो और हृदय से प्रभु की कृपा की बाट देखती रहो । जहाँ रहो प्रसन्न रहो । पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

.....

(१६)

आनन्द कुटीर
पुष्कर (अजमेर)
२२–७–१९५१

सौभाग्यवती लाड़ली बेटी,

बहुत–बहुत प्यार ।

यह जानकर कि तुमको सभी लोग आदर तथा प्यार की दृष्टि से देखते हैं, हर्ष हुआ । पर बेटी, इस बात का सदैव ध्यान रखो कि किसी की उदारता तथा कर्त्तव्य एवं दुर्बलताओं को अपनी महत्ता नहीं समझना चाहिये । जो कुछ मिले उसे प्रभु की कृपा समझो । यदि न मिले तो अपनी भूल मानो अथवा अदृश्य समझो । सच तो यह है

कि विवेकी जन प्यार तथा आदर पाने की अपेक्षा देने में अधिक महत्त्व मानते हैं । पाने में तो प्राणी ऋणी बनता है और देने में उदार तथा दाता बनता है । इस दृष्टि से पाने की अपेक्षा देना अधिक महत्त्व की वस्तु है । आशा है कि तुम सदैव पाने की अपेक्षा देने का अधिक ध्यान रखोगी । वास्तव में देना ही मानवता और लेना पशुता है । दी हुई वस्तु बढ़ जाया करती है, इसे सभी विचारशील जानते हैं । अतः लेने के लिए भी देना अनिवार्य है । अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि देना ही सच्ची साधना है । पर यह भलीभाँति समझ लो कि प्रत्येक प्रवृत्ति सुख–बुद्धि को त्याग हित–बुद्धि से, मोह को त्याग धर्म–बुद्धि से करनी चाहिये । हृदय दीनता तथा अभिमान् से मुक्त रहे । प्रत्येक कार्य सहज स्नेह तथा स्वाभाविकतापूर्वक होना चाहिये। छल, कपट तथा बनावट नहीं होनी चाहिए । हाँ, कभी–कभी आमोद–प्रमोद की भावना से मनोरंजन भी अनिवार्य है, किन्तु दूसरों के सम्मान तथा प्यार का पूरा–पूरा ध्यान रहे । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

.....

(१७)

आनन्द कुटीर
पुष्कर
११–८–१९५१

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी,
बहुत–बहुत प्यार ।

देखो बेटी, जो वृक्ष सदैव किसी अन्य वृक्ष की छाया में रहता है, वह अधिक फलता–फूलता नहीं है । अतः तुम जैसी आस्तिक बालिका को प्रत्येक परिस्थिति में स्वतः कर्त्तव्य–निर्णय कर लेना चाहिए । प्रियजनों के दुःख से दुःखी होना, उनके प्रति हितकामना रखना और शरीर द्वारा सेवा करना तथा सर्व–समर्थ श्रीहरि के समर्पण करना, जिससे उनका हित हो । जिन वस्तुओं को सुरक्षित रखना हो तथा जिनके प्रति हित–कामना हो उनको सद्भावपूर्वक

सर्व–समर्थ प्रभु के समर्पण करना परम अनिवार्य है, क्योंकि आस्तिक का यही अंतिम कर्त्तव्य है ।

रानी बेटी, आस्तिक प्राणी के जीवन में लोभ, मोह आदि विकारों के लिए कोई स्थान नहीं है । ऊपर से सब कुछ करते हुए भीतर से निष्काम बनी रहो, यही मेरा आदेश है । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा पिता

.....

(१८)

पुष्कर

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी, २१–८–१६५१

सर्वदा प्रसन्न रहो ।

तुमने ठीक ही लिखा है कि धार्मिक मामले में अपनी ओर से किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए । पर बेटा, अपने धर्म पर सदैव दृढ़ रहना चाहिए । धर्म के दो भाग हैं–एक बाह्य और एक अन्तरंग । बाह्य में भेद हो सकता है । तुम्हारा अपना धर्म पूज्य महानुभावों की आज्ञा–पालन करना है । अतः वे लोग जिन बातों को आज्ञा–पालन के रूप में कहें उसे मान लो, पर अपने सिद्धान्त पर दूसरे मतों का प्रभाव मत होने दो । अवसर मिलने पर सविनय प्रिय शब्दों द्वारा पूछने पर अपना मत प्रकट कर दो । पर बेटी, इस बात का सदैव ध्यान रखो कि मत–भेद होने पर भी प्रीति–भेद न हो । प्राकृतिक नियमानुसार जब दो व्यक्ति भी समान योग्यता के नहीं होते तो फिर साधन–भेद अनिवार्य है । अपने धर्म का पालन करते हुए दूसरों के धर्म का आदर करो । प्रिय वत्स गुरु प्रसाद तथा तुम दोनों को बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

(१९)

.....

पुष्कर

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी, ३१–८–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा पत्र मिला । यह जानकर कि तुम धर्मनिष्ठ हो, हर्ष हुआ । तुम जैसी बालिकाओं से ही भारतमाता गौरवान्वित होगी । प्रतिकूलताओं

में भी अनुकूलताओं का अनुभव करना विवेकी जनों का जीवन है, कारण कि विवेकी जन सदैव अपने परिवर्तन से अपना सुधार करते हैं । उनकी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहती । वे सदैव अपने पर अपना ही शासन रखते हैं । उन्होंने अपने को सभी परिस्थितियों से असंग बना लिया है । उनका पवित्र हृदय राग–द्वेष–शून्य हो जाता है । उनके हृदय में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं रहता, कारण कि वे भलीभाँति जानते हैं कि सब कुछ करने से जो कुछ मिलता है वही कुछ न करने पर भी प्राप्त होता है । कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा व्यर्थ चिन्तन नहीं समझना चाहिए । कुछ न करने का वास्तविक अर्थ है काम–रहित होना । पुनः बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

.....

(२०)

पुष्कर

सौभाग्यवती लाड़ली बेटी, २–६–१६५१

बहुत–बहुत प्यार ।

जिसमें अपना कुछ बस नहीं है उसके लिए चिन्ता व्यर्थ है । मानव–समाज की चरित्रहीनता इतनी बढ़ गई हे कि प्रकृति को क्रोध आने लगा है, ऐसा मेरा विश्वास है । बल का दुरुपयोग करने से यही दशा हो जाती है । इसी कारण विवेकीजन सदैव बल का सदुपयोग करते हैं, जिसे आज का मानव भूल गया है । जब तक वस्तुएँ बाँट कर खाई जाती थीं, तब तक प्रकृति को प्राणियों के लिये प्रकृति सदैव रत्नों से स्वागत करती रही है । आज हम उसे माता मानना भूल गये हैं और लगे उसका उपयोग करने, बस उसे क्रोध आने लगा।

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति वास्तव में साधनरूप है, किन्तु प्राणी मोहवश बँध जाता है । पुनः बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा पिता

.....

(२१)

बम्बई

मेरे निज–स्वरूप, २–११–१६५१

तुम्हारा लिखा पत्र मिला । देखो भाई, विश्वास करने योग्य केवल सर्व–समर्थ प्रभु की कृपा है और सेवा करने योग्य संसार । अतः तन से सेवा और मन से भगवत्–चिन्तन निरन्तर करते रहो । हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जो विश्वास तथा चिन्तन करने योग्य है उसका विश्वास तथा चिन्तन न करना और जो विश्वास करने योग्य नहीं है उसपर विश्वास करना । इस प्रमाद के मिटते ही प्राणी सच्चाई का आदर करने लगता है । ज्यों–ज्यों सच्चाई का आदर सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों–त्यों अविवेक विवेक में अपने आप बदलता जाता है । विवेकरूपी सूर्य उदित होते ही मोहरूपी अन्धकार मिट जाता है । मोह मिटते ही अनुराग उत्पन्न होता है, जो वास्तव में आस्तिक का जीवन है । अनुराग–रहित प्राणी, न तो आस्तिक है, न मानव । ऐसा मेरा मत है । अनुराग के लिए सब कुछ दिया जा सकता है, पर अनुराग किसी के लिए नहीं दिया जा सकता । ऐसा जानकर हमें मोह से अनुराग की ओर जाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए । अनुराग प्राणियों को किसी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध नहीं करता । इतना ही नहीं, सभी से असंग कर सर्व से अतीत अनन्त नित्य सौन्दर्य से अभिन्न करता है, जो वास्तव में मानव की माँग है । वर्तमान का आदर करते हुए प्रत्येक कार्य सरसतापूर्वक उस प्रभु के नाते करते रहो । पर कार्य के अन्त में सरल विश्वासपूर्वक सहज भाव से प्रभु को पुकारो । यही सच्चा भजन है। पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(२२)

पुष्कर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १८–११–१६५१

.....सच्चरित्रता की कसौटी तो केवल अपने पास है और किसी के पास नहीं । तुम्हारे हृदय में सेवा की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी

चाहिए । जब जगत् की दृष्टि में तुम्हारी भावनाएँ सही सिद्ध होंगी तब सेवा करने का अवसर भी मिल जावेगा । यह भलीभाँति समझ लो कि प्राकृतिक विधान में योग्यंता, ईमानदारी तथा परिश्रम का आदर अवश्य है । इन्हीं के सम्पादन में अथक प्रयत्नशील बने रहो, यही अपना कर्त्तव्य समझो । यह नियम है कि कर्त्तव्यनिष्ठा सफलता की कुंजी है । पूज्या दादी को मेरी ओर से निवेदन कर दें कि उन जैसे आस्तिक प्राणी के जीवन में मोह तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है, उन्हें अपनी सारी इच्छाएँ सर्व–समर्थ श्रीहरि को समर्पण कर चिन्ता–रहित हो जाना चाहिए । यही उनका वास्तविक धर्म है । संसार को अपना मानना नास्तिकता है, जो उन्हें कभी भी प्रिय नहीं है । सर्व–समर्थ श्रीहरि उन्हीं प्राणियों को अपनाते हैं जो सब प्रकार से उनके ही होकर रहते हैं, अर्थात् उनसे भिन्न किसी और को अपना नहीं मानते । मोह–जाल में फँसा हुआ प्राणी वास्तव में आस्तिक नहीं है ।

अतः हमें यही सीखना और सिखाना है कि प्रत्येक कार्य मोह को त्याग धर्मपूर्वक भगवत् नाते करते हुए निरंतर श्रीहरि का चिन्तन करते रहें । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

२३

छपरा

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १६–२–१६५२

.....जिन संकल्पों को विचार से नहीं मिटा पाते उन संकल्पों के लिए कर्म करना अनिवार्य हो जाता है । उसका परिणाम सुख हो अथवा दुःख, किन्तु विचारशील न तो संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध होते हैं और न दुःख से भयभीत । अतः तुमने जो कुछ किया, ठीक किया, और परिणाम भी जो कुछ हुआ, ठीक हुआ । तप के बिना कोई भी राजा नहीं बन सकता, चाहे उसका जन्म रानी के पेट से हो अथवा जनता के पेट से । जो लोग आपसे पूर्व तप कर चुके हैं वे फल भोग रहे हैं और जिन्होंने अब आरम्भ किया है आगे भोगेंगे..... । जब सेवक

उपभोग में लग जाता है तब उसका विकास रुक जाता है—यह प्राकृतिक नियम है.....। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

२४

.....

मेरे निज—स्वरूप परम प्रिय, २५—२—१९५२

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करने की परम प्रेमास्पद से प्रार्थना की गई है । इस सम्बन्ध में सन्देह यह हुआ कि दुःखी किसका त्याग करे, उसके पास है ही क्या ? प्रत्येक दुःख का जन्म किसी—न—किसी प्रकार के अभाव तथा प्रमाद से ही होता है । जिसका अभाव है उसकी वासना का त्याग ही वास्तव में त्याग है । यदि निर्धन धन की वासना से और कामी कामिनी की वासना से अपने को मुक्त करले, तो निर्धनता भी मिट जाती है और दुःख भी । प्रमाद का वास्तविक अर्थ है निज ज्ञान का अनादर, अर्थात् जानते हैं पर नहीं मानते, कर सकते हैं पर नहीं करते । जब साधक ज्ञान के अनादर का त्याग कर देता है और उसका आदर करने लगता है तब प्रमाद से उत्पन्न होने वाले सभी दुःख मिट जाते हैं ।

एक बार यह हृदय अत्यन्त दुःखी था । पतितपावनी भागीरथी के तट पर बैठकर सोचने लगा—'दुःख क्यों हो रहा है ?' ज्ञात हुआ कि संसार में मेरा कोई यथेष्ट स्थान नहीं है, वह मुझे क्यों नहीं चाहता है । उत्तर मिला कि मैं उसके काम न आ सका । तत्पश्चात् प्रेरणा हुई कि जो मुझे नहीं चाहते उनका कोई दोष नहीं । यह भाव आते ही प्रकाश मिला कि जिसे मैं चाहता हूँ वह भी तो मेरे काम नहीं आ सका । मेरे जिस अपराध तथा दुर्बलता के कारण उसने मेरा त्याग किया, वह दुर्बलता उसमें भी तो है । बस, प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा से बल मिला कि जो मेरे बिना रह सकते हैं, मुझे भी उनके बिना हर्षपूर्वक रहना चाहिए । बस, दुःखहारी आगये और दुःख मिट गया। अतएव प्रेमपात्र से प्रार्थना की गई कि दुःखी प्राणियों को त्याग का

बल प्रदान करें, क्योंकि त्याग ही दुःख का सदुपयोग है । दुःख से भयभीत होना, उसका यथेष्ट आदर न करना, दुःख आने पर त्याग को न अपनाना परम भूल है ।

सुखी प्राणी त्याग नहीं कर सकता, कारण कि सुख से स्वाभाविक प्रियता होती है । सुखी सुख का वितरण कर सकता है, पर उससे दुखियों का दुःख मिट जावेगा, ऐसा सम्भव नहीं है । सुख का वितरण करने–मात्र से सुखी प्राणी सुख के बन्धन से मुक्त होकर दुःखी हो जाएगा । पर सुख–वितरण के पश्चात् जो दुःख आता है, उससे दुःखी भयभीत नहीं होता, प्रत्युत् स्वाभाविक त्याग की ओर अग्रसर होने लगता है, जो प्राणी का अन्तिम प्रयत्न है । मोह के त्याग से वियोग का भय और लोभ के त्याग से हानि का भय एवं अभिमान के त्याग से अपमान का भय तथा शरीर–भाव के त्याग से सब प्रकार के अभाव का भय मिट जाता है । अब आप भली प्रकार समझ गये होंगे कि दुःख के मिटाने के लिए त्याग ही महामंत्र है । अतः दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग के बल की प्रार्थना की गई है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(२५)

.....

८–३–१९५२

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

परम प्रेमास्पद तो न चाहने वाले को भी चाहते हैं । उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि जो मेरे बिना रह सकता है हम भी उसके बिना सहर्ष रह सकें । यह बात तो एकमात्र संसार के सम्बन्ध में है, कारण कि संसार उसी को चाहता है जो उसके काम आता है, क्योंकि अनेक दुर्बलताओं का समूह ही संसार है ।

सुख के उपभोग में चार दोष कथन किये गये थे । उनमें से तीन तो आप जानते हैं, चौथा है 'प्रमाद' । क्योंकि सुख–भोग–काल

में परिवर्तन में अपरिवर्तन–बुद्धि हो जाती है और उससे उत्कृष्ट सुख की ओर दृष्टि नहीं रहती, तभी मानव प्राप्त सुख में आबद्ध हो जाता है । भोग से भोक्ता का मूल्य घट जाता है और फिर पराधीनता और हृदयहीनता आदि दोष आ जाते हैं ।

सुख से जड़ता और दुःख से जागृति स्वतः आ जाती है । सजीव दुःख विकास का मूल और निर्जीव दुःख भय–जनक होकर व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करता है । निर्जीव दुःख वास्तव में सुख की दासता है, दुःख नहीं । अपनी अपूर्णता की अनुभूति ही वास्तव में दुःख है, जो पूर्णता–प्राप्ति का साधन है, कारण कि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है ।

तुम्हारा

.....

२६

हरिद्वार

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १५–६–१६५२

बहुत–बहुत प्यार ।

तारीख ६ का लिखा हुआ पत्र मिला । देखो भाई ! भगवत् नाते कर्त्तव्य–बुद्धि से योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर भविष्य अपने आप उज्ज्वल तथा आशाजनक हो जाता है । ऐसा मेरा मत है । विवेकपूर्वक अपने में से अहम् और मम हटा देना चाहिए, अर्थात् प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना अनिवार्य है । हृदय प्रेमास्पद की प्रीति और मन पवित्र सर्वहितकारी संकल्पों से भरा रहे और शरीर श्रमी तथा मन संयमी बना रहे, तभी मानव–जीवन की सार्थकता सिद्ध होगी । ऐसा मेरा अनुभव है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

२७

पुष्कर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ६–८–१९५२

ता० २७ का लिखा हुआ पत्र मिला । आस्तिक जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है । प्रतिकूलताओं का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए अभय तथा निश्चिन्त बने रहो । अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो । मन में किसी के प्रति भी राग–द्वेष मत रखो । प्रत्येक घटना में अपने प्रभु की कृपा का अनुभव करो । जो कुछ हो रहा है उसे उन्हीं की लीला समझो । जीवन स्वयं रक्षा करता है, इसके लिए चिन्ता करना भूल है । प्रत्येक बालक अपना भाग्य लेकर आया है । अपना कर्त्तव्य तो केवल प्राप्त परि–स्थिति का सदुपयोग करना है, और कुछ नहीं । कर्त्तव्यपरायण प्राणी के जीवन में दीनता अर्थात् (Inferiority) और अभिमान अर्थात् (Superiority) की गुत्थियाँ (Complex) नहीं रहनी चाहिए । जो सेवा मिले उसे मोह–रहित धर्मानुसार करते रहो । यदि कोई काम न मिले तो हार्दिक धन्यवाद दो । परिवर्तन विकास के लिए आता है, ह्रास के लिए नहीं । प्रतिकूल परिस्थिति में प्राणी जितना सहनशील रहता है उतना ही सफल होता है । विवेकीजन प्राप्त बल का दुरुपयोग नहीं करते और न विवेक का अनादर ही करते हैं । अपनी सारी इच्छाएँ सर्व–समर्थ प्रभु के अर्पण कर दो और अपना स्वभाव ईमानदार तथा श्रमी बना लो । किसी का बुरा मत सोचो, अप्राप्त की इच्छा मत करो। सभी परिस्थितियों को परिवर्तनशील समझो । मन को शुद्ध बनाने के लिए बड़ी–से–बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करलो । तभी चिर–शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता मिलेगी । प्रत्येक कार्य साधन–बुद्धि से करना है उसे साध्य अर्थात् जीवन मत समझो । जीवन तो पर से स्व की ओर गतिशील होने में है । प्राणी अपने से विमुख होकर दीनता तथा अभिमान में फँस गया है । इस प्रमाद का अन्त कर दो, तो फिर अपने में ही अनन्त नित्य जीवन का अनुभव होगा। तुम्हारी सत्ता के बिना तुम पर कोई शासन नहीं कर सकता।

प्राणी अपनी सत्ता देकर ही अपने को दीन बनाता है । सभी में अपने को और अपने में सभी को अनुभव कर अभय हो जाओ । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें विवेक प्रदान करें, जिससे तुम प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में समर्थ हो परिस्थितियों से अतीत के जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(२८)

.....

परम प्रिय स्नेहमयी बाई जी, ३१–१२–१६५२

तुम अभागिन नहीं हो, बड़ी ही भाग्यशाली हो, कारण कि अभागी तो वे होते हैं जिनका मन प्रभु से विमुख होकर विषयों के पास जाता है । तुम तो संसार से विमुख होकर प्रभु की शरणागत हो गई हो । अतः तुम तो बड़भागी हो । सत्संग तथा स्वाध्याय एवं अनुभव के द्वारा जो कुछ समझ में आ गया है उसी के अनुसार मन बनालो। ज्यों–ज्यों समर्पण भाव दृढ़ होता जायेगा, त्यों–त्यों चिन्तन स्वतः मिटता जावेगा । सब प्रकार के चिन्तन का मिट जाना ही अचिन्त होना है, अर्थात् हृदय प्रभु–प्रेम से भर जावे और मन निर्विकल्प हो जावे तथा बुद्धि विवेकवित् होकर सम हो जावे यही सच्चा भजन है ।

जिस ज्ञान से हम दूसरों के दोष देखते हैं उसी ज्ञान से हम अपने दोष देखें और उसका त्याग कर दें, बस यही ज्ञान का मतलब है । निज ज्ञान से अपने दोषों को देखना और उनको मिटा देना ही सच्चा सत्संग है । संसार से निराश होकर जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कर लेना सच्चा वैराग्य है । सब ओर से अपने को हटा कर अपने में ही अपने प्रभु को पा लेना सच्चा अभ्यास है ।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो । तन सेवा में और मन प्रभु–चिन्तन में लगा रहे–यही सच्चा पुरुषार्थ है ।

तुम्हारा हितैषी

.....

(२६)

ऋषिकेश
४–५–१९५३

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय.....तथा स्नेहमयी.....

तुम दोनों को बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । आस्तिक प्राणियों के जीवन में निराशा तथा असफलता के लिए कोई स्थान नहीं है, कारण कि आस्तिक का जीवन सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत है । भगवत् नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विकास का मूल है। श्रद्धेय पिताजी की यथेष्ट सेवा करना परम साधना है, क्योंकि प्रियजनों की सेवा करने से प्राणी मोह–रहित तथा वीतराग हो जाता है । जिनसे सुख लिया है उनकी सेवा करने से ही राग निवृत्त होगा । राग–रहित होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है । चित्त के शुद्ध होते ही हृदय पवित्र प्रीति से भर जाता है और मन व्यर्थ संकल्पों से रहित हो जाता है। किसी वस्तु तथा व्यक्ति से अलग होने मात्र से त्याग नहीं हो जाता, अपना न मानने से त्याग होता है, अथवा यों कहो कि सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपने लिए केवल प्रभु ही अपने हैं । यही महामन्त्र है त्याग तथा प्रेम को स्थायी बनाने के लिए । पुनः तुम दोनों को बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(३०)

ऋषिकेश

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १६–५–१९५३

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । जो प्राणी भगवत् नाते निर्मोहतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हैं वे ही मेरे सच्चे सेवक हैं । अतः तुम यह बात अपने मन से सदा के लिए निकाल दो कि मेरे समीप आने पर ही मेरी सेवा होगी । तुम जितना अपने को सुन्दर बना लोगे उतनी ही मुझे प्रसन्नता होगी, और वही मेरी सच्ची सेवा होगी ।

निर्मोहता के बिना प्राणी सच्चाईपूर्वक सेवा कर नहीं पाता । अपनी सारी इच्छाएँ सर्व–समर्थ प्रभु के समर्पण कर दो और योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रम–पूर्वक प्राप्त कार्य करते रहो । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(३१)

ऋषिकेश

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स तथा स्नेहमयी....., २३–५–१९५३

तुम दोनों को बहुत–बहुत प्यार ।

सरल तथा मधुर स्नेह से हरा–भरा पत्र मिला । निस्संदेह चित्त की एकाग्रता के लिए किसी रुचिकर चित्र की आवश्यकता हो सकती है, पर उस प्रेमास्पद का अखिल विश्व ही एक सुन्दर चित्र है । जो साधक उन्हें अखिल विश्व में नहीं देख सकता, उसे राम, कृष्ण, शिव आदि का, जिसमें अपनी प्रियता हो, चित्र रखना चाहिए । यद्यपि उनको अपना मान लेना और अपने को उनके समर्पण कर देना ही वास्तविक प्रीति है । प्रीति ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों चित्त स्वभाव से ही शुद्ध तथा एकाग्र होता जाता है । अनावश्यक संकल्पों को जमा रखने से, आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन करने से, वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग न करने से चित्त चंचल होता है । जिन प्रेमियों ने अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को अपने प्रियतम की पूजा बना लिया है, उनका चित्त बिना ही प्रयत्न के शान्त हो जाता है । चित्त बड़ा ही रसिया है, उसे रस चाहिए । रस एकमात्र प्रीति से ही उदित होता है । जब प्रीति जाग्रत होती है तब चित्त अपने आप एकाग्र हो जाता है । अखिल विश्व में अपने प्रेमास्पद को देखे, उन्हीं के नाते प्रत्येक कार्य करो । स्वकर्म द्वारा जो पूजा की जाती वही सर्वोत्कृष्ट है । सब कुछ उन्हीं का समझो । संसार की ममता से रहित होते ही प्रभु की प्रियता स्वतः उत्पन्न होगी । जो प्राणी सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं, वे मेरे और मैं उनके सर्वदा संग हूँ, कारण कि लक्ष्य की एकता ही सच्ची एकता है । शरीर की एकता तो अत्यन्त निकट

रहने पर भी भिन्नता ही रखती है । प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है । गुरुजनों का आदेश–पालन ही वास्तविक गुरुभक्ति है। जिन्हें गुरु–भक्ति प्राप्त हुई वे स्वयं गुरु हो गये, ऐसा मेरा अनुभव है । सभी प्रियजनों को प्यार निवेदन करना । पुनः तुम दोनों को बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

३२

पुष्कर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १५–८–१९५३

बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । मानव सेवा संघ का सबसे बड़ा काम यही है कि प्रत्येक सदस्य अपना निर्माण करे । जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प खिलने पर सुगन्ध स्वतः फैलती है, उसी प्रकार अपना निर्माण करने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है, यही मानव सेवा संघ का मुख्य उद्देश्य है । जिसने इस उद्देश्य को चरितार्थ किया उसी ने मानव सेवा संघ का कार्य किया । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

३३

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २२–२–१९५३

उन्हें जो कार्य कराना है करायेंगे । अपना लक्ष्य तो प्रत्येक अवस्था में प्रेमास्पद की रजा में राजी रहना है, उनके मंगलमय विधान का ही आदर करना है, क्योंकि सभी प्रकार से उनका होकर रहने में जो रस है वह वर्णन से अतीत है..... ।

जिस प्रकार गन्दी नाली साफ करते समय दुर्गन्ध अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार बैठकर प्रिय–चिन्तन करते समय मन में भरी

हुई विचारधारा स्पष्ट रूप से निकलने लगती है । इसका अर्थ यह नहीं है कि मन व्यर्थ चिन्तन में लगा है । इसका तो वास्वतिक अर्थ यह है कि मन में जो व्यर्थ चिन्तन भरा था, वह अब निकल रहा है। ऐसा करते–करते मन एक दिन साफ हो जायेगा..... ।

चलते–फिरते जप करते में सुविधा इस कारण प्रतीत होती है कि क्रिया–शक्ति का व्यय चलने में और भाव–शक्ति जप में लग जाती है । बैठकर जप करने में ऐसा इस कारण नहीं होता कि क्रिया–शक्ति भी जप में लगाती हो । जिस कार्य में रस आने लगता है, उस कार्य में मन लग जाता है। मानसिक जप बिना स्नान किये प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है । वाणी से जप उसी अवस्था में करना अधिक हितकर होता है, जब बाह्य पवित्रता हो । इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम बिना स्नान किये जप नहीं कर सकतीं । जिस प्रकार भोजन की रुचि बढ़ाने के लिए चौके को साफ–सुथरा करते हैं तथा मेज को सजाते हैं उसी प्रकार मन के रजोगुण तथा तमोगुण को दूर करने के लिए तथा मन की रुचि बढ़ाने के लिए बाह्य स्नान की तैयारी की जाती है । जिनमें भाव–शक्ति तथा सरल विश्वास जाग्रत हो जाता है वे प्रत्येक अवस्था में जप कर सकते हैं । मधुर स्वर के साथ इतनी आवाज से प्रत्येक मंत्र का जप किया जा सकता है जिससे बाहरी और कोई आवाज मन में न आये । उच्चारण करना और श्रवण करना दोनों वृत्तियाँ जप में लग जायँ । उसी प्रकार मन से बोलने, सुनने तथा देखने की चेष्टा करनी चाहिए । मन की वाणी से बोलो, मन के कानों से सुनो तथा मन के नेत्रों से देखो कि जप यथावत् चल रहा है । ये सारी बातें तभी तक आवश्यक है, जब तक मन–पक्षी प्रेम–जाल में नहीं फँसता । बुद्धि हमें अपने को निर्दोष बनाने के लिए तथा हृदय प्रेमास्पद के सरल विश्वास से भरने के लिए मिला है । बुद्धि का उपयोग अपने मन को निर्दोष बनाने में और हृदय का उपयोग प्रिय के विश्वास में करना चाहिए । ज्यों–ज्यों मन में निर्दोषता बढ़ती जाती है त्यों–त्यों हृदय प्रिय–विश्वास तथा प्रिय–प्रेम से स्वतः भरता जाता है ।

तुम्हारा

.....

(३४)

बीकानेर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १–४–१६५४

बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला । सत् चित् आनन्द एक ही तत्त्व की विभूतियाँ हैं । इन तीनों में विभाजन नहीं है, अर्थात् जो सत् है वही चित् है और आनन्द है । चित् ही ज्ञान, प्रकाश और ज्योति है। इन्द्रिय–दृष्टि की भाँति कोई अलौकिक उजाला नहीं है । ज्योति का अर्थ स्वयंप्रकाश है । जो अपने को अपने आप प्रकाशित करे और जिससे समस्त विश्व प्रकाशित हो वही ब्रह्म–ज्योति है । ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्म से अभिन्न होने ही में है । ब्रह्म किसी करण का विषय नहीं है । ब्रह्म और जगत् का भेद करने पर तो ब्रह्म जगत् का प्रकाशक है और जगत् का अभाव स्वीकार करने पर केवल ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं । सभी पर–प्रकाश्य का प्रकाशक जो है, वही ज्योति है। जिस प्रकार ज्ञान और बोध पर्यायवाची हैं, उसी प्रकार ज्योति और ज्ञान भी पर्यायवाची हैं । अहं और मम के नाश होने पर इन्द्रिय और बुद्धि–दृष्टि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाती हैं, तो फिर ब्रह्म–ज्योति बुद्धि का विषय कैसे हो सकती है ! ब्रह्म–तत्त्व अपनी महिमा में आप स्थित है और अपना प्रकाशक आप ही है, इसलिए उसे ज्योति कहकर भी सम्बोधित किया है । पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(३५)

बीकानेर

मेरे निज–स्वरूप, ४–१०–१६५४

यह तुम जानते हो कि किसी भी बात का अनुवाद ठीक नहीं हो पाता, फिर भी तुम्हारी भावनाओं का चित्र तो मन पर प्रभाव डालता ही है । तुम जितना जानते हो उतना नहीं कर पाते अथवा जितना

करना चाहते हो उतना नहीं कर पाते, यह दशा मानसिक रोग की है । जब प्राणी के हृदय और मस्तिष्क में सन्तुलन नहीं रहता तब यही दशा हो जाती है । हृदय को ऊँचा उठाने के लिए गहरी व्याकुलता ही महामन्त्र है, कारण कि मन पर अंकित राग व्याकुलता की अग्नि से ही भस्म हो सकता है ।

अब रही मानव सेवा संघ के प्रचार तथा प्रसार की बात । इस संबंध में मेरा निश्चित मत है कि जो बात हमारे जीवन में आ जायगी उसका प्रचार तथा प्रसार स्वतः होगा । इस दृष्टि से प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग में ही संघ का प्रचार निहित है । मानव सेवा संघ किसी व्यक्ति–विशेष का तथा किसी देश–विशेष का तथा किसी दल तथा वर्ग–विशेष का संघ नहीं है । मानव सेवा संघ मानव मात्र का है । अतः उसकी आवश्यकता मानव मात्र की आवश्यकता है । तो फिर इसका प्रचार क्यों न होगा ? इस समय आवश्यकता ऐसे कार्यकर्ताओं की है जो अपने जीवन से संघ की विचारधारा का परिचय दे सकें। मानव सेवा संघ का कार्यक्रम प्रैक्टिकल है, केवल थ्योरिटिकल नहीं, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा संघ की विचारधारा का प्रचार करना है । सत्संग के द्वारा अपने को निर्दोष बनाना है औरव वर्तमान कार्य के द्वारा दूसरों के अधिकारों की रक्षा करके सुन्दर समाज का निर्माण करना है और स्नेह की एकता के आधार पर राग–द्वेष रहित होकर शान्ति की स्थापना करना है । प्रत्येक कार्य में संघ की विचारधारा का प्रभाव प्रदर्शित होने लग जाय, तब समझना चाहिए कि हम मानव सेवा संघ के सदस्य हैं । अपने प्रति न्याय, दूसरों के प्रति प्रेम सदैव सुरक्षित बना रहे, तभी हम अपने में विद्यमान मानवता को विकसित कर सकेंगे । अनेक भेद होने पर भी सभी में मानवता एक है, वर्ग–भेद होने पर भी मानवता एक है, तो फिर मानवता आ जाने पर सच्ची एकता, निर्वैरता, निर्दोषता क्यों न आ जायेगी, अर्थात् अवश्य आ जायेगी । धीरज तथा शान्ति एवं क्षमता दृढ़ रहने पर आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होगा । प्राप्त शक्ति के सदुपयोग से मानवता स्वतः आ जायेगी, जिसके आ जाने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगेगा और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न होगी । जो

होना चाहिए उसके होने से जो मिलना चाहिए वह स्वतः मिल जायगा। यह निर्विवाद सत्य है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

(३६)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप, १–११–१६५४

सुख–दुःख साधन–सामग्री है और कुछ नहीं । उसका सदुपयोग करो और अपने को सुख–दुःख से अतीत अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर दो, जिससे तुम्हारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है । वर्तमान की वेदना भविष्य की सत्ता स्वतः बन जाती है, अर्थात् प्राणी जिस दुःख से दुःखी होता है कालान्तर में उसी के अनुरूप उसका जीवन हो जाता है । इस दृष्टि से ज्यों–ज्यों अपने को निर्दोष बनाने का दुःख बढ़ता जाएगा, त्यों–त्यों निर्दोषता स्वतः आती जायेगी । सभी दोष मिट सकते हैं । उनसे कभी भी हार स्वीकार नहीं करनी चाहिये । परन्तु प्रत्येक दोष मिटाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए । यह भलीभाँति समझ लो कि जो हार स्वीकार नहीं करता वह कभी–न–कभी विजयी अवश्य होता है । मानव–जीवन दुःख–सुख भोगने के लिए नहीं मिला है, अपितु सुख–दुःख के सदुपयोग द्वारा चिन्मय दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए मिला है । मन में उत्पन्न हुई निर्बलताओं को सर्व–समर्थ पतितपावनी माँ के सामने प्रकट कर दो और फिर निश्चिन्त हो जाओ, माँ की कृपाशक्ति स्वतः निर्मल बना देगी ।

मानव सेवा संघ का कार्य साधना है । अतः उसमें यथाशक्ति लगे रहो । साधन की आवश्यकता किसी–न–किसी निर्बलता–काल में ही होती है । जिस प्रकार औषधि का सेवन रोगावस्था में होता है उसी प्रकार साधन करने की आवश्यकता दोषयुक्त जीवन में ही होती है । सभी दोष अपने बनाये हुए खिलौने हैं । जब चाहो तब उन्हें तोड़ सकते हो । प्राणी अपने को देह मान कर अनेक निर्बलताओं

में आबद्ध हो जाता है । जिस काल में साधक विवेकपूर्वक अपने को देह से अलग अनुभव कर लेता है उसी काल में उसकी सभी निर्बलताएँ निर्जीव हो जाती हैं । निर्बलताओं के मिटते ही सभी दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

३७

.....

२२–८–१९५५

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

आलस्य तथा श्रम एवं चाह तथा चिन्तन से रहित होने पर मूक सत्संग स्वतः हो जाता है, और फिर साधक योग, ज्ञान तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है ।

अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर अपने आपको समर्पण करना ही मूक सत्संग का आरम्भ है, और आपे का गल जाना ही अन्त है । मूक सत्संग स्वतः अपने को समझाने में समर्थ है । यदि निश्चित समय पर किया जाय तो हम सब अलग रहने पर भी मिल जाते हैं। इस दृष्टि से मूक सत्संग निश्चित समय पर करने में विशेष सफलता मिलती है, परन्तु यदि किसी कारण समय न मिले, तो जब समय मिले तभी करना चाहिये ।

जाग्रत का स्वप्न तो आपको स्वीकृत ही है । अब रही जाग्रत की सुषुप्ति की बात । उसमें जो शब्दों की दृष्टि से मतभेद प्रतीत होता है, उसपर विचार करने से स्पष्ट हो जायेगा कि जाग्रत की सुषुप्ति का अर्थ है कि स्वभाव से होने वाली सुषुप्ति में जो जड़ता का दोष है वह इसमें नहीं होना चाहिए । उसको सुषुप्ति क्यों कहा ? उसका तात्पर्य है कि सषुप्ति की भाँति उसमें भी भेद और दुःख का अन्त है परन्तु है तो अवस्था ही न ? जाग्रत में जो जागृति है उसे तो मैंने कहीं नित्य जागृति के नाम से संबोधित किया है, क्योंकि नित्य जागृति

अवस्थाओं से अतीत है । जाग्रत की सुषुप्ति अवस्थाओं से अतीत नहीं है और आंशिक रूप में सुषुप्ति के सदृश है । इस कारण जाग्रत की सुषुप्ति संबोधित करना उपयुक्त प्रतीत होता है । नित्य जागृति आ जाने पर अवस्थान्तर नहीं होता । जितेन्द्रियता स्वतः सिद्ध हो जाने पर मन में निर्विकल्पता और बुद्धि में समता आ जाती है । उस बुद्धि की समता से असंग होने पर नित्य जागृति आती है, जो अमरत्व से अभिन्न करने में समर्थ है ।

तुम्हारा

.....

(३८)

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १०–१०–१६५५

जाग्रत में स्वप्न उसी समय तक रहता है तब तक तत्त्व–जिज्ञासा अथवा प्रिय–लालसा भोगे हुए सुख की स्मृति को और अभुक्त इच्छाओं को खा नहीं लेती । ज्यों–ज्यों प्रिय–लालसा तथा तत्त्व–जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों जाग्रत का स्वप्न जाग्रत की सुषुप्ति में विलीन होता जाता है । जाग्रत की सुषुप्ति दृढ़ होते ही स्वतः जाग्रत में नित्य जागृति चिन्मय दिव्य नित्य अनन्त जीवन से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है । जिस प्रकार साधारण सुषुप्ति जाग्रत और स्वप्न के श्रम का विनाश कर शक्ति प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि पुनः जाग्रत और स्वप्न में होने वाले सुख–दुःख को भोगने की शक्ति देती है, उसी प्रकार जाग्रत की सुषुप्ति शांति से असंग कर आवश्यक सामर्थ्य द्वारा अनन्त नित्य दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है । समस्त प्रयत्न जाग्रत की सुषुप्ति में विलीन हो जाते हैं, और फिर अप्रयत्न ही साधक को साध्य से अभिन्न कर देता है ।

तुम्हारा

.....

(३६)

वृन्दावन
१–११–१९५५

आदरणीया कर्त्तव्यनिष्ठ स्नेहमयी,

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

मूक सत्संग अन्तिम साधना है । जहाँ तक हो सके प्रतिदिन निश्चित समय पर प्रातः ३–३० से ४ तक और सायंकाल ७–३० से ८ तक मूक सत्संग करना चाहिए । मन में दबे हुए संकल्पों के निकालने के लिए मूक सत्संग बड़ी ही सुन्दर साधना है । भय और लालच के पत्थरों से मन में बहुत से संकल्प दबा दिये गये हैं । वे मूक सत्संग से ही निकल सकते हैं । कर्त्तव्य के अभिमान से तथा श्रम एवं आलस्य से रहित होने पर मूक सत्संग स्वतः हो जाता है । मन स्वयं ही एक चित्र है । उसमें ही अनेक चित्र प्रतीत होते हैं, पर अपने को उन चित्रों से न तो सुख लेना है और न भयभीत होना है, अपितु जो हो रहा है उसे साक्षी भाव से देखते हुए अपने को उससे विमुख कर लेना है । चाह रहित होने पर सब कुछ स्वतः हो जाता है । परन्तु जब तक देहाभिमान गल नहीं जाता तब तक किसी–न–किसी प्रकार की चाह बनी रहती है, कारण कि 'यह' को अर्थात् दृश्य को 'मैं' मान लेने पर देह–अभिमान पुष्ट होता है, जो अविवेक–सिद्ध है । अविवेक निज विवेक के आदर से ही मिट सकता है, किसी अन्य अभ्यास से नहीं। जिसे 'यह' कहते हैं उसे 'मैं' कहना प्रमाद है, और कुछ नहीं । जब 'यह' में अहम्–बुद्धि नहीं रहती तब निर्वासना स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है और सार्थक चिन्तन, योग, विचार तथा प्रेम स्वतः उत्पन्न होता है । व्यर्थ चिन्तन के त्याग से बोध तथा समर्पण से प्रेम स्वतः जाग्रत होता है । इन तीनों में से कोई भी एक हो जाने पर सभी स्वतः होने लग जाते हैं । वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन ही व्यर्थ चिन्तन है, जो निर्लोभता तथा निर्मोहता आ जाने पर स्वतः मिट जाता है । वस्तुओं तथा व्यक्तियों एवं समस्त परिस्थितियों से अतीत जीवन है, इस पर विश्वास करने से तथा इसकी अनुभूति होने से निर्लोभता तथा निर्मोहता स्वतः आ जाती है । यही महामंत्र है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(४०)

गोंडा

मेरे निज–स्वरूप, १५–१२–१६५५

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित है । अपने सभी संकल्पों को सर्व–समर्थ प्रभु के समर्पण करके निर्विकल्प हो जाओ, यही सफलता की कुंजी है । उनकी अहैतुकी कृपा आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही दे देती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं देती । इस दृष्टि से कुछ भी माँगना अपनी बेसमझी का परिचय देना है और उनके मंगलमय विधान का अनादर करना है । कुछ न माँगने से सब कुछ हो जाता है । प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो । जो कुछ हो रहा है उसी में अपने प्यारे की कृपा का अनुभव करो ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

(४१)

फैजाबाद

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १८–१२–१६५५

बहुत–बहुत प्यार ।

प्राणी को प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहना चाहिए । जिस प्रकार मछलियों के उछलने से समुद्र को खेद नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के बनने–बिगड़ने से विचारशील को क्षोभ नहीं होता । विश्राम बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, पर उसकी प्राप्ति उन्हीं साधकों को होती है जो आवश्यक कार्य को निर्मोहतापूर्वक प्रभु के नाते फल की आशा से रहित होकर कर डालते हैं और अनावश्यक कार्य की कामना का त्याग कर देते हैं । यही मानव का परम पुरुषार्थ है । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(४२)

गीता भवन, ऋषिकेश
२१–४–१९५६

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

बहुत–बहुत प्यार ।

सरलता तथा स्नेह से भरा हुआ पत्र मिला । बड़े हर्ष की बात है कि अन्य भाई–बहिन मानव सेवा सघ की साप्ताहिक बैठक में सक्रिय भाग ले रहे हैं । सर्व–समर्थ प्रभु उन्हें आवश्यक बल तथा विवेक प्रदान करें, जिससे वे अपने कल्याण तथा मानव–समाज के उत्थान में समर्थ हों । मानव सेवा संघ की विचारधारा मानव मात्र की माँग है । उस विचारधारा का प्रचार सनातन सत्य का प्रचार है। संघ की साधन–प्रणाली आधुनिक है, पर उद्‌देश्य सनातन है । सत्य किसी व्यक्ति की उपज नहीं है, अपितु खोज है । खोज उसी की होती है जो सदैव विद्यमान है । उस विद्यमान तत्त्व से अभिन्न होना ही मानव का परम लक्ष्य है । उस लक्ष्य से अभिन्न करने में स्नेह की एकता, दूसरों के अधिकार की रक्षा, अपने अधिकार का त्याग एवम् जाने हुए दोषों को त्याग निर्दोष होना ही समर्थ है, कारण कि साधक दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग से राग–रहित होता है और अनेक बाह्य भेद होने पर भी स्नेह की एकता से अभेद होता है और निर्दोष होने में ही समस्त विकारों का अन्त है । राग–रहित होना, निर्विकार होना और अभेद होना ही वास्तविक मानवता है । राग–रहित होने से नित्ययोग, निर्विकार होने से समस्त दिव्यता और अभेद होने से सब प्रकार के भय का अन्त स्वतः हो जाता है । योग से चिर–शान्ति और निर्भयता से तत्त्व–साक्षात्कार तथा अमरतत्व और दिव्यता से परम प्रेम स्वतः प्राप्त होता है । शान्ति समस्त सामर्थ्य की प्रतीक है और प्रेम अगाध अनन्त रस की उपलब्धि में हेतु है और तत्त्व–साक्षात्कार अमरत्व प्रदान करनेमें समर्थ है । इन तीनों में स्वरूप की एकता है । इन तीनों से ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है । पुनः बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(४३)

गीता भवन, ऋषिकेश
२२–४–१९५६

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

बहुत–बहुत प्यार ।

सरलता तथा स्नेह से हरा–भरा पत्र मिला । आवश्यक संकल्पों की पूर्ति प्राकृतिक विधान के अनुसार यथासमय अपने–आप हो जाती है । परन्तु साधक अपने को संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध न होने दे और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील बना रहे। ऐसा होने पर जिज्ञासु के जीवन में स्वतः विचार का उदय और भक्त के जीवन में प्रेम का उदय स्वतः होता है । विचार का उदय होते ही अविचार सदा के लिए विदा हो जाता है और स्वतः तत्त्व–साक्षात्कार हो जाता है । प्रेम का उदय राग–द्वेष को खाकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करने की सामर्थ्य प्रदान करता है । दो साधकों की निष्ठा में भले ही भेद हो, पर स्वरूप की एकता ही रहती है, क्योंकि योग अनन्त की शक्ति है और ज्ञान स्वरूप है और प्रेम स्वभाव है ।

संकल्प–पूर्ति के सुख ने ही संकल्प–अपूर्ति के दुःख में आबद्ध किया है, जिससे संकल्प–निवृत्ति असम्भव हो गई है । संकल्प–पूर्ति विद्यमान राग की वास्तविकता का बोध कराने के लिए आती है, पर साधारण प्राणी उसे अपना जीवन तथा महत्त्व मान कर उसकी दासता में आबद्ध हो जाते हैं और फिर संकल्प–उत्पत्ति के जाल से बच नहीं पाते । सरल विश्वासी संकल्प–पूर्ति में भी प्यारे प्रभु की दया का ही अनुभव करते हैं और उनकी महिमा का गुणगान करते हुए अपने को संकल्प–पूर्ति की दासता से मुक्त कर उनकी अहैतुकी कृपा के अधिकारी हो जाते हैं । विश्वासी के लिए जो भावना तथा परिस्थिति प्रेम–उत्पादन का हेतु है, विचारशील के लिए वही परिस्थिति राग–निवृत्ति का हेतु है । संकल्प–पूर्ति के सुख से नवीन राग को उत्पन्न कर लेना न तो भक्त का स्वभाव है और न जिज्ञासु का । संकल्प–पूर्ति से वस्तु, व्यक्ति आदि का महत्त्व बढ़ता है, यही घोर नास्तिकता है । इससे अपने को बचा लेना ही परम आस्तिकता है। वस्तुओं के उत्पादन तथा सदुपयोग एवं व्यक्तियों की सेवा में प्रभु के

नाते लगे रहने में कोई क्षति नहीं है । परन्तु उसमें ही सन्तुष्ट हो जाना और उसी को जीवन मान लेना प्रमाद अवश्य है । उस प्रमाद से बचाने के लिए ही प्यारे प्रभु मानव–मात्र में निज–विवेक के स्वरूप में अवतरित हुए हैं ।

अतः प्रत्येक साधक को इन्द्रिय, मन आदि सभी को निज विवेक के प्रकाश में ही रखना चाहिए, जिससे जितेन्द्रियता एवं निर्विकल्पता स्वतः आ जाय, जिनके आने पर अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्य के अभिमान से रहित कर्त्तव्य–पालन स्वतः हो जाता है, क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह समष्टि शक्ति के द्वारा ही हो रहा है । शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समष्टि शक्तियाँ हैं । उनमें ममता कर लेना ही उन्हें दूषित करना है, और उनकी ममता से रहित हो जाना ही उनको शुद्ध करने का सुगम, सहज तथा अन्तिम उपाय है । सब कुछ अपने प्यारे का ही है । सभी उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं । सभी में सत्ता भी अपने प्यारे ही की है । ऐसा मानने तथा जान लेने पर स्वतः होने वाली प्रवृत्तियाँ और अपने आप आने वाली निवृत्ति साधन बन जाती हैं । प्रवृत्तियों के द्वारा सभी के अधिकारों की रक्षा और निवृत्ति के द्वारा अपने अधिकार का त्याग स्वतः हो जाता है । सभी के अधिकारों की रक्षा में विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग उत्पन्न नही होता । यह नियम है कि राग–रहित होते ही योग, ज्ञान, प्रेम स्वतः हो जाता है, जो वास्तविक आस्तिक जीवन है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(४४)

इन्दौर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २४–८–१९५६

बहुत–बहुत प्यार ।

ता० १५ का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा–भरा पत्र मिला । यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति प्राणी वर्तमान जीवन की

वस्तु मान लेता है उसकी प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता स्वतः जाग्रत होती है । अतः जो साधक अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता है और उसे वर्तमान में ही प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए भविष्य की आशा नहीं करता, वह किसी भी मार्ग से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । तुमने अपनी रुचि, विचार और विश्वास दोनों पर ही बतायी है। अतः तुम्हें दोनों ही मार्गों में श्रद्धा है । पर तुम यह निर्णय नहीं कर पाते हो कि इनमें से किस एक का अनुसरण किया जाय । इस सम्बन्ध में मेरा अपना यह विचार है कि तुम्हारे लिए विश्वास–मार्ग ही अधिक अनुकूल होगा, क्योंकि दोनों मार्गों के प्रति श्रद्धा यह सिद्ध करती है कि विश्वास–मार्ग के संस्कार अधिक हैं । विचार–मार्ग के साधक के जीवन में विश्वास की गंध भी नहीं होती । हाँ, यह बात अवश्य है कि विचार के अन्त में स्वतः विश्वास की अभिव्यक्ति होती है।

विश्वास–मार्ग का साधक प्राप्त विवेक का उपयोग अपने दोषों के जानने में कर सकता है । परन्तु उस विवेक को अपने प्रेमास्पद की देन ही मानता है ओर प्रेमास्पद की महिमा पर अविचल श्रद्धा करते हुए अपने को समर्पित कर देता है, अर्थात् निज दोषों को जानकर और उनकी महिमा को मानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने साधन का निर्माण कर लेता है । विश्वास–मार्ग में अनधिकारी ही अधिकारी हैं, कारण कि विश्वासमार्गी अपनी निर्बलताओं से दुःखी होता है, पर उन्हें मिटा नहीं पाता । ऐसी दशा में उसकी दृष्टि स्वतः अपने प्यारे की अहैतुकी कृपा पर चली जाती है और उसे अपनाकर निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है, जिसके होते ही अहैतुकी कृपा का अनुभव स्वतः हो जाता है ।

विश्वासमार्गी साधक अपने दोषों का सुख नहीं भोगता, अपितु दोष–जनित प्रवृत्ति से दुःखी ही रहता है । यह नियम है कि जब दोष–जनित प्रवृत्ति सुखद नहीं रहती तब दोष स्वतः निर्जीव हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि उनकी अहैतुकी कृपा–शक्ति सभी दोषों को खा लेती है, और फिर निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। किसी–न–किसी गुण के अभिमान से ही दोषों की उत्पत्ति होती है, कारण कि गुण–रहित दोष कभी जीवित नहीं रह सकता । अतः

विश्वास–मार्ग के साधक को अपने दोष को जानना और उनकी महिमा को मानना अनिवार्य है । उनकी महिमा का विश्वास दोषी होने पर भी निर्दोषता से निराश नहीं होने देता । यह नियम है कि जिससे प्राणी निराश नहीं होता उसकी प्राप्ति अवश्य होती है । अतः उनकी कृपा की ओर देख निर्दोषता के लिए नित–नव उत्साह तथा उत्कंठा बढ़ती रहनी चाहिए । यही महामंत्र है समस्त दोषों का अन्त करने के लिए.....। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(४५)

मुजफ्फरपुर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ५–११–१९५६

बहुत–बहुत प्यार ।

मानव सेवा संघ को कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है । जब तक कुछ लोग अपना समय देकर कार्य न करेंगे तब तक मानव सेवा संघ की विचारधारा का प्रचार न हो सकेगा । प्रथा के रूप में तो सभी जगह सत्संग होता ही है, पर मानव सेवा संघ जिस सत्संग का समर्थक है वह तभी संभव होगा जब कुछ लोग मेरे साथ रहकर विचार–विनिमय करें । मानव–समाज को व्यक्ति–निर्माण की विशेष आवश्यकता है । उसके लिए ज्ञान और जीवन में, विश्वास और जीवन में एवं मान्यता और जीवन में एकता होनी चाहिए । यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं । मेरा हृदय तुम्हारे स्नेह का ऋणी है ।

जाने हुए असत् के त्याग में ही सत् का संग निहित है । केवल सत् की चर्चा करने मात्र को ही सत्संग नहीं समझना चाहिे । हाँ, यह अवश्य है कि पारस्परिक विचार–विनिमय करने से साधक में जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य आ जाती है । परन्तु वह तब, जब साधक पर–चर्चा न करके अपनी निर्बलताओं के आधार पर ही चर्चा करें । इस दृष्टि से सत्संग करने पर जीवन की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती है । पर ऐसा सत्संग वे ही साधक कर सकते हैं जो निज विवेक का आदर करते हैं, अर्थात् विवेक–विरोधी कोई भी कार्य नहीं करते । विवेक उस अनन्त का अनुपम विधान है । उसके अनुरूप

जीवन हो जाने पर सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं । जिनके मिटते ही अनन्त दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(४६)

पोरबन्दर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २०–२–१९५७

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है, जो मानव–जीवन का परम लक्ष्य है । प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग ही आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की प्राप्ति का साधन है–यह महामन्त्र अपना लेने पर सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं । यदि आवश्यक वस्तु का अभाव प्रतीत होता है तो समझना चाहिए कि हमने प्राप्त वस्तु का सदुपयोग नहीं किया । प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग की सामर्थ्य उसी साधक में आती है जो वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा रखता है । वस्तुओं से अतीत के जीवन में श्रद्धा तभी जाग्रत होती है जब साधक विवेकपूर्वक अपने में से वस्तुओं का त्याग कर देता है, अथात् अपने को किसी भी वस्तु से तद्रूप नहीं करता, अपितु सभी वस्तुओं से असंग हो जाता है । उसी को वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा होती है, जो विकास की मूल है–विवेक से ही वस्तुओं के सदुपयोग का ज्ञान होता है और विवेक से ही वस्तुओं की ममता का त्याग होता है और विवेक में ही वस्तुओं के स्वरूप का बोध निहित है । अतः विवेक के आदर से समस्त विकास स्वतः होने लगते हैं, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से मनुष्य मात्र को स्वाभाविक प्राप्त है । अवनति का मूल एकमात्र प्राप्त विवेक का अनादर है, और कुछ नहीं, जो मानव का अपना बनाया हुआ दोष है । अपने बनाये हुए दोष का त्याग ही निर्दोषता की भूमि है । पुनः बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(४७)

नई दिल्ली

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स, २६–३–१६५७

.....हम लोगों के मन में तो मिलने की बात थी, पर फिर भी मिलन न हो सका । यदि इसी सम्बन्ध में और गम्भीरता से विचार किया जाये तो ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर से मिलन वास्तविक मिलन नहीं है । वास्तविक मिलन तो नित्य सम्बन्ध तथा प्रीति की एकता में ही है । उसके लिए देशकाल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती, कारण कि प्रीति स्वरूप से दिव्य, चिन्मय तथा अनन्त है । यह नियम है कि जो चिन्मय है वह विभु है । जो विभु है उससे देश–काल की दूरी तथा भेद रह नहीं सकता । हाँ, एक बात अवश्य है कि प्रीति ऐसा अलौकिक तत्त्व है जो वियोग में मिलन और मिलन में वियोग का भास कराता है, पर इस रहस्य को वे ही प्रेमी जानते हैं जो भुक्ति और मुक्ति की दासता से मुक्त हैं, अर्थात् जिन्होंने भोग और मोक्ष को ठुकरा दिया है और प्रेम ही को अपना सर्वस्व स्वीकार किया है । जब तुम अपने को मेरा मानते हो तब तुम्हारी भूल मेरी भूल है, तुम्हारी नहीं । यदि तुम वह नहीं कर सके जो करना चाहिए तो इससे यह स्पष्ट होता है कि मैं तुम्हारे साथ वह नहीं कर सका जो करना चाहिए । कुछ न करने से भी सब कुछ हो सकता है, परन्तु कुछ करने से कुछ नहीं होता । प्राकृतिक नियमानुसार कुछ न करने में सब कुछ करने की सामर्थ्य निहित है और सब कुछ करने पर भी अन्त में कुछ न करना ही सिद्ध होता है । इस दृष्टि से जो सचमुच अकर्ता है वही सचमुच कर्ता है और जो सचमुच कर्ता है वही अकर्ता है । ज्ञान–दृष्टि से जो निष्क्रिय है वही समस्त क्रियाओं का आधार है और प्रेम के साम्राज्य में जो सब कुछ करता है वही निष्क्रिय है । यह रहस्य जान लेने पर ज्ञान और प्रेम में एकता हो जाती है ।

तुम्हारा

.....

(४८)

स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश
१–४–१९५७

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

आपका भेजा हुआ संदेश संघ की सभा में सुना दिया गया था। कार्यकर्ताओं के अभाव में ही संघ का कार्य शिथिल है । सही कार्यकर्ताओं का निर्माण होने पर संघ की विचारधारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यापक हो सकती है, क्योंकि मानव मात्र को उसकी माँग है । इतना ही नहीं, यदि यह कह दिया जाय कि मानव सेवा संघ सफलता की कुंजी है, तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि असफलता का कारण केवल एकमात्र अमानवता अर्थात् विवेक–विरोधी कार्य है, और कुछ नहीं । सच्चे साधक की क्रियाएँ भले ही सीमित हों, पर उसकी भावना तो असीम ही है । यह नियम है कि असीम भावनाओं से सीमित क्रिया शुद्ध होती है और सीमित क्रिया से असीम भावना सजीव हो जाती है । अतः शुद्ध भावना से की हुई सीमित क्रिया भी बड़े ही महत्त्व की वस्तु है । आप जैसे सच्चे सेवक यदि अल्प संख्या में भी हो जायँ तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है । जब तक हमें अपने जीवन में गुणों का अभिमान तथा दोषों की उत्पत्ति प्रतीत होती है, तब तक हमें बड़ी ही सावधानीपूर्वक अपनी विवेक–दृष्टि से अपने को सजग रूप से देखना है ।

निर्बलताओं का दर्शन ही उनके मिटाने का अचूक उपाय है । निर्बलताओं के दर्शन में एक गहरी वेदना जाग्रत होती है, जो निर्बलता–जनित राग को खाकर निर्मल बना देती है । निर्बलताएँ चाहे कितनी क्यों न हों, मिट सकती हैं, क्योंकि उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हैं । वे सीमित गुणों के आधार पर ही जीवित रहती है। गुणों का अभिमान गलते ही समस्त दोष अपने आप मिट जाते हैं–यह निर्विवाद सिद्ध है । जिस प्रकार बिना भूमि के कोई भी पौधा उगता नहीं, उसी प्रकार गुणों के अभिमान के बिना कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता ।

व्यथित हृदय से उदित प्रार्थना समस्त दोषों का अन्त करने में

समर्थ है । निर्दोषता की उत्कट लालसा में ही समस्त विकास निहित है । मानव–जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है । किन्तु हमें जो असफलता दिखाई देती है उसका एकमात्र कारण हार स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । अनेक बार असफल होने पर भी हमें निराश नहीं होना है, अपितु असफलता की वेदना से नित–नव आशा का संचार करना है । जब हमें उसी को प्राप्त करना है जो सर्वत्र सर्वदा है तब हार स्वीकार करने की बात ही क्या है । प्राप्त में अविचल अनुराग और अप्राप्त की चाह से रहित होने में ही सब कुछ मौजूद है, पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्राप्त परिस्थिति का ईमानदारी से सदुपयोग किया है । अतः प्रत्येक दशा में अपनी ओर देखते हुए जो कर सकते हो कर डालो। बस, बेड़ा पार है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(४६)

गीताभवन

स्नेहमयी दुलारी बेटी, ६–६–१९५७

बहुत–बहुत प्यार ।

निःसन्देह तुम बड़ी अच्छी लड़की हो । तुमने बड़ी ही ईमानदारी से अपनी भूल स्वीकार की है । अब तुम उसे न दोहराने का संकल्प कर लो । ऐसा करते ही समस्त दोष अपने आप मिट जायेंगे, जिनके मिटते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जायगी ।

बड़े हर्ष की बात है कि तुम गीता तथा रामायण का पाठ करती हो, और अब तुमने उनको समझने का अभ्यास आरम्भ कर दिया है। एक बात भलीभाँति समझ लो कि श्री गीताजी प्यारे प्रभु की वाणी है । प्यारे प्रभु अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र मौजूद है । अतः तुम उनकी वाणी को स्वयं अपने में श्रवण करो । वह तभी होगा जब तुम जैसा जानती हो तथा मानती हो, वैसा ही अपना जीवन बना लो..... । बड़ों को आदर और छोटों को प्यार सदैव देती रहो । माता–पिता आदि की आज्ञा का पालन करो । यही सफलता की कुंजी है । पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार । तुम्हारा

.....

(५०)

गीता भवन

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ६–६–१९५७

बहुत–बहुत प्यार ।

.....बालक के मन में अविश्वास हम लोग उससे झूठ बात कह कर उत्पन्न कर देते हैं । चंचलता क्या बाल–स्वभाव नहीं है ? आप लोगों ने उसे प्रलोभन तथा भय देकर उसके सुधार की बात सोची है । ऐसा सुधार स्थायी नहीं होता । बालक को कभी भय तथा प्रलोभन नहीं देना चाहिए । उससे सदैव सच्ची बात कहनी चाहिए । उसकी जो बात मान्य न हो, उसे स्पष्ट कह देना चाहिए कि ऐसा नहीं कर सकते और जो बात मान्य हो उसे बड़ी ही उदारतापूर्वक कर देना चाहिए । ऐसा व्यवहार करने से ही बालकों का सुधार हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है । भय तथा प्रलोभन समस्त दोषों का मूल है।

बुराई को बुराई जानकर नहीं करना है । किसी भय से बुराई को न करना और किसी प्रलोभन से भलाई करना वास्तव में न तो बुराई का त्याग है और न भलाई का करना है । बुराई को जानकर बुराई का त्याग करना है, और भलाई को भलाई जानकर भलाई करना है । भय और प्रलोभन का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

विवेकपूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदि से असंग होने पर ही दीनता का अन्त होता है । दीनता का अन्त होते ही अभिमान अपने आप मिट जाता है । इन दोनों में से किसी एक का नाश होने से दोनों ही नाश हो जाते हैं । वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के आधार पर अपने को महत्त्व देना अभिमान है । वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का सदुपयोग करना और उन्हें अपना न मानना ही निरभिमानता का साधन है । इससे वस्तुओं से अतीत जो जीवन है, उस जीवन में अविचल श्रद्धा होती है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता अपने आप हो जाती है । जिससे आत्मीयता हो जाती है उसमें अगाध अनन्त नित–नव प्रियता स्वतः होती है, जो वास्तव में रसरूप है । वर्तमान को सरस बनाओ । आगे–पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो । वर्तमान की सरसता ही समस्त विकारों का अन्त करने में समर्थ है, क्योंकि नीरसता ही

काम आदि विकारों को जन्म देती है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

.....

(५१)

खुरई

मेरे निज–स्वरूप १३–१२–१९५७

बहुत–बहुत प्यार ।

अपने प्यारे प्रभु से नित्य संबंध स्वीकार कर लेने पर सभी देश, सभी काल समान हो जाते हैं, कारण कि उनके अतिरिक्त किसी और की नित्य स्वतंत्र सत्ता का मन से सम्बन्ध ही शेष नहीं रहता, अर्थात् अपने प्यारे से भिन्न कहीं कुछ है ही नहीं, यह अनुभव हो जाता है। फिर प्रत्येक परिस्थिति तथा अवस्था में समता आ जाती है, कारण कि सभी में अपने प्यारे प्रभु की लीला का ही तो दर्शन है ।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो । वर्तमान कार्य निर्मोहतापूर्वक, प्यारे प्रभु के नाते करते रहो । अपने आप को पकड़े मत रहो । उनके सर्व–समर्थ श्रीचरणों में अपने को पुष्प बनाकर चढ़ा दो । भीतर से चिरशान्त तथा ऊपर से क्रियाशील बने रहो । सभी प्रियजनों को यथोचित । तुमको पुनः बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

(५२)

निर्माण निकेतन, रांची

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स, २४–१२–१९५७

बहुत–बहुत प्यार ।

तारीख १८–१२–५७ का लिखा हुआ सरलता, ईमानदारी एवं श्रद्धा से हरा–भरा पत्र मिला । प्यारे, यह तो बताओ, जिसे अपनी निर्बलताओं का बोध हो जाता है क्या उसमें निर्बलताएँ रह सकती हैं ? कदापि नहीं । निज दोष के ज्ञान में ही दोषी होने की वेदना और दोषी होने की वेदना में ही दोष मिटाने की सामर्थ्य निहित है,

कारण कि दोष–जनित सुख–लोलुपता को दोषी होने की वेदना खा लेती है । सुख–लोलुपता के अन्त में ही समस्त दोषों का अन्त है, क्योंकि ऐसा कोई दोष है ही नहीं जिसका जन्म सुख–भोग की रुचि से न हो, अर्थात् समस्त दोष सुख–भोग की रुचि में निवास करते हैं । सुख–भोग की रुचि उसी समय तक जीवित रहती है जब तक दोष–जनित व्यथा जाग्रत नहीं होती । प्यारे प्रभु की अहैतुकी कृपा ने मानव–मात्र को विवेक प्रदान किया है । विवेक के प्रकाश में भूतकाल के सभी दोष स्पष्ट दिखाई देते हैं । विचारशील साधक भूतकाल के आधार पर अपने को वर्तमान में दोषी नहीं मानते, अपितु निर्दोषता की स्थापना कर की हुई भूल न दोहराने का दृढ़ संकल्प कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाते हैं । वैज्ञानिक दृष्टि से निश्चिन्तता आवश्यक सामर्थ्य की जननी है और निर्भयता प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग कराने में हेतु है । अतः ज्यों–ज्यों निश्चिन्तता तथा निर्भयता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों–त्यों सभी निर्बलताएँ सदा के लिए स्वतः मिटती जाती हैं । प्यारे प्रभु के मंगलमय विधान में वर्तमान मानव–मात्र का निर्दोष है । उस निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए केवल की हुई भूल न दोहराना ही परम साधन है, जिसे प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक कर सकता है । उस पर भी यदि कोई कठिनाई प्रतीत हो तो अपने को सर्व–समर्थ प्रभु के शरणागत कर निश्चिन्त हो जाओ । यही सफलता की कुंजी है । शरणागति में सभी साधनों का समावेश है, अर्थात् फिर किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। पर यह रहस्य वे ही जान पाते है जिन्हें अनन्त की अहैतुकी कृपा की महिमा में अविचल श्रद्धा है और जो अपने सद्भाव में विकल्प नहीं करते । सभी प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा दुलारी बेटी को बहुत–बहुत प्यार निवेदन करना । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा

.....

(५३)

छपरा

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २७–१–१९५८

मानव सेवा संघ की विचारधारा का मूल स्रोत मानव का प्राप्त

विवेक है । निज विवेक के आदर की भावना को पुष्ट करना ही मानव सेवा संघ की विचारधारा के प्रचार का सहज सरल एवं सुगम उपाय है । प्रत्येक मानव विवेक–विरोधी कर्म, विश्वास तथा सम्बन्ध का त्याग करने के लिए सर्वदा तत्पर बना रहे, यही मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार मानव का परम पुरुषार्थ है । इस पुरुषार्थ को सजीव बनाने के लिए आस्तिक दर्शन की दृष्टि से शरणागति, अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से असंगता और भौतिक दर्शन की दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना अनिवार्य है ।

मानव सेवा संघ का प्रचार मानव का व्यक्तिगत जीवन है । जो मानव जिस अंश में अपने को सुन्दर बनाता है उसी अंश में वह संघ का प्रचार कर सकता है । अपने को सुन्दर बनाने में अपनी निर्बलताओं का परिचय मुख्य साधन है । हाँ, एक बात अवश्य है कि अपनी निर्बलता को जानना है, पर उसकी अपने में स्थापना नहीं करनी है, अर्थात् निर्बलताओं की उपासना नहीं करनी है, अपितु उनका त्याग करना है । निर्बलताओं के त्याग का मुख्य साधन है पराए दोषों को न देखना।

करने का बोझा प्राणी के ऊपर उसी समय तक रहता है जिस समय तक वह कामना–पूर्ति के सुख का भोगी है । सुख का प्रलोभन मिटते ही करने की रुचि स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही होने के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है और फिर करने और होने का द्वन्द्व शेष नहीं रहता । द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश ही चिर–शान्ति है । चिर–शान्ति में ही आवश्यक सामर्थ्य का विकास निहित है । यह नियम है कि सामर्थ्य स्वाधीनता से और स्वाधीनता दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है । इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाय और कामना–पूर्ति को जीवन का लक्ष्य न बनाया जाय । यह नियम है कि बल के सदुपयोग से विद्यमान राग की निवृत्ति स्वतः हो जाती है और कामना–पूर्ति को जीवन का उद्‌देश्य न मानने से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती । राग–रहित भूमि में ही करना होने में और होना 'है' में विलीन हो जाता है । अतः करने का दायित्व मिले हुए के सदुपयोग में है । 'बल का सदुपयोग', 'विवेक का आदर' यही एक

ऐसा सूत्र है जो मानव मात्र को मानव सेवा संघ की विचारधारा से अभिन्न करने में समर्थ हैं ।

मानव मात्र में सभी दर्शनों का समावेश है । अतः जिसमें जिस दर्शन के प्रति अभिरुचि हो उसकी उसी दर्शन की बात बताई जाय। अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण मानव मात्र को अभीष्ट है । उसके लिए मिले हुए का सदुपयोग और जाने हुए का प्रभाव मुख्य साधन है । सर्व–साधारण मानव अनुकूल परिस्थिति एवं चिर–शान्ति चाहते हैं अनुकूलता प्राप्त के सदुपयोग में, चिर–शान्ति विवेकपूर्वक बल के सदुपयोग में है । इस दृष्टि से सर्व–साधारण जन–समाज के समक्ष यही रखना है कि जो प्राप्त है उसका दुरुपयोग और जो जानते हो उसका अनादर मत करो । इस बात का ध्यान रहे कि जिस भाई–बहिन से जो कुछ कहा जाय उसे उसकी अपनी ही बात मालूम पड़े, क्योंकि अपनी बात में अपने को निस्संदेहता रहती है । यह नियम है कि निस्संदेहता के बिना कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती। कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना किसी का भी विकास नहीं होता ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(५४)

नई दिल्ली
३–४–१९५८

सत्य की जिज्ञासु स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

तुम्हारा २५–३–५८ का लिखा हुआ, सरलता तथा स्नेह से हरा–भरा पत्र मिला । तुम्हें चम्बल तट पर, व्यक्तिगत रूप से सत्संग करने का अवकाश न मिल सका, यह जानकर मुझे खेद हुआ। पर क्या किया जाय, प्राणी परिस्थिति के अनुरूप ही कार्य कर सकता है । प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मानव–मात्र सर्वदा स्वाधीन है। परिस्थितियों के परिवर्तन में सभी पराधीन हैं । इस पराधीनता में भी प्राणी का विकास ही निहित है, क्योंकि यह अनन्त का मंगलमय विधान है । विधान के आदर में ही प्राणी का विकास है । इस दृष्टि

से जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें प्रसन्न रहना ही हितकर है । पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने मानव–जीवन के महत्त्व को भली–भाँति जान लिया है । प्रत्येक परिस्थिति साधन–सामग्री है, जीवन नहीं । साधन–सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग से सफलता अवश्य होती है । जब मानव अपनी माँग को अपने ज्ञान से जान लेता है, तब परिस्थिति के अनुसार जो उस पर दायित्व है उसको अवश्य पूरा कर डालता है । दायित्व को पूरा करते ही माँग अपने आप पूरी हो जाती है । इस दृष्टि से अपनी माँग का ज्ञान और दायित्व को पूरा करना ही सफलता की कुंजी है ।

अपने जाने हुए असत् का त्याग ही वास्तव में सत् का संग है। सत् का संग होते ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है और फिर साधक, साधन और साध्य में दूरी तथा भेद नहीं रहता, यह निर्विवाद सत्य है । विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति निहित है । कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए असंगता से जीवन अपने लिए और शरणागति से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, यह मानव–जीवन की महिमा है । साधन–निर्माण के लिए कुछ काल उत्तर–प्रत्युत्तर, अर्थात् व्यक्तिगत प्रश्नों को सामने रखकर परस्पर विचार–विनिमय करना अनिवार्य होता है । इस कारण तुम अवकाश मिलते ही उचित व्यवस्था द्वारा कुछ दिन के लिए मेरे समीप आ जाओ । तुम लोगों के ठहरने आदि की व्यवस्था हो जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है । जब तक साधन–निर्माण नहीं होता, तभी तक परस्पर विचार–विनिमय की अपेक्षा है । रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन–निर्माण होते ही बाह्य सत्संग की आवश्यकता नहीं रहती । साधक जो कुछ कर सकता है उसी से उसे सिद्धि मिल सकती है । इस मंगलमय विधान पर आस्था होने पर प्रत्येक साधक निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है । मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है । सभी प्रियजनों को बहुत–बहुत मधुर स्नेह निवेदन करना ।

तुम्हारा

.....

(५५)

गीता भवन
ऋषिकेश

परम आस्तिक स्नेहमयी, ५–५–१९५८

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति बनकर रहो ।

विवेक–विरोधी कर्म का त्याग हो जाने पर कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है और फिर जो करना चाहिए, वह होने लगता है, जिसके होने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है । यदि किये हुए के फल में आसक्ति न हो तो वही कर्त्तव्य–कर्म अपने प्रेमास्पद की पूजा हो जाती है । इस दृष्टि से कर्त्तव्य–परायणता सफलता की कुंजी है । किन्तु जब तक साधक विवेकविरोधी कर्म का त्याग नहीं करता, तब तक स्वाभाविक रूप से कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती । ऊपर से भरी हुई भलाई अभिमान को जन्म देती है । अभिमान की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं । जानी हुई बुराई के त्याग से भलाई स्वतः प्रकट होती है और फिर सभी दोष सदा के लिए मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, भूतकाल में की हुई बुराईयों की स्मृति भी नाश हो जाती है, क्योंकि सर्वांश में दोषों का अन्त होने पर निरभिमानता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही भूतकाल की घटनाओं का प्रभाव मिट जाता है । वर्तमान तो सभी का निर्दोष है । इस निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए की हुई भूल को न दुहराना ही परम साधन है । किसी भी साधक को न तो विवेक–विरोधी कर्म ही करना है और न वह करना है जिसके करने का सामर्थ्य नहीं है पर आदर तथा प्यार सभी को देना है । आदर और प्यार की भूख सभी में रहती है । वस्तु तो व्यक्ति के भाग्य से मिलती है । अतः आदर तथा प्यार देना ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है । यह सेवा वे ही साधक कर पाते हैं जो अनेक वेशों में उस एक का ही दर्शन करते हैं । कर्म की विधि तो भिन्न–भिन्न प्रकार की होगी, किन्तु कर्म–भेद होने पर भी प्रीति की एकता ही रहेगी। यही सेवा की सफलता है ।

किसी में भी ममता न हो, अपने प्रेमास्पद में आत्मीयता हो । आत्मीयता प्रियता की और प्रियता अनन्त रस की प्रतीक है । अनन्त

रस की भूख ही अपनी भूख है । अतः प्रियता में ही पूर्णता है । कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, उन्हीं की है जिनकी यह सारी सृष्टि है । उन्हीं के नाते प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करना है । प्राप्त वस्तु के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तु की प्राप्ति निहित है । अप्राप्त वस्तु की कामना ने ही प्राणी को वस्तुओं की दासता में आबद्ध कर दिया है । वस्तुओं की दासता रहते हुए न तो वस्तुओं का सदुपयोग ही हो पाता है और न दरिद्रिता ही नाश हो पाती है । इस रहस्य को जान लेने पर सच्चा साधक प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करते हुए अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित हो जाता है । कामना का नाश हो जाने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप चिरशान्ति का सम्पादन होने लगता है । शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है । स्वाधीनता में ही दिव्य चिन्मय जीवन निहित है ।

जब प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म अपने प्यारे की पूजा है, तब यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता कि जो कार्य सामने है, नहीं होगा । अवश्य होगा, क्योंकि जिसकी पूजा करनी है, वह समर्थ है, अपना है, तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है ? असावधानी साधन में बाधक है । अतः विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो । बस, बेड़ा पार है ।

सर्व–समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें विश्व की सेवा तथा अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

५६

इन्दौर

सत्य पथ की अनुगामिनी, स्नेहमयी बेटी, २–६–१९५८

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

यह तो सभी को मान्य होगा कि साधनयुक्त जीवन मानव जीवन है । इस कारण अपनी अपनी रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक मानव को साधन निर्माण करना अनिवार्य है । निज विवेक के प्रकाश में जाने हुए असाधन का त्याग करते ही साधन का निर्माण स्वतः हो जाता है क्योंकि असाधन–जनित सुख–लोलुपता साधक

द्वारा असाधन का त्याग होने में बाधक होती है । इस दृष्टि से सर्व प्रथम अकर्तव्य से उत्पन्न हुई सूख–लोलुपता नष्ट करना अनिवार्य है । यद्यपि आया हुआ सुख अपने आप चला जाता है किन्तु उसका प्रलोभन साधक को सुख की दासता में आबद्व कर देता है । सुख की दासता ही दुःख के भय को जन्म देती है । प्राकृतिक विधान के अनुसार दुःख न चाहने पर भी आजाता है और सुख न चाहने पर भी चलाजाता है । विचारशील साधक आये हुए सुख–दुःख का भोग नहीं करते, अपितु सदुपयोग करते हैं । सुख–दुःख का भोग असाधन है और सदुपयोग साधन है । सुख–दुःख परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएँ हैं । साधक को उन दोनों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना है ।

सुख–दुःख में जीवन बुद्वि न रहने से सुख–दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य अपने आप आजाती है । सुख–दुःख का सदुपयोग वे ही प्राणी नहीं कर पाते जो सुख–दुःख को ही जीवन मान लेते हैं, उन्हें साधन सामग्री नहीं जानते । सुख उदारता का और दुःख त्याग का पाठ पढाने के लिए आता है । उदारता करुणा तथा प्रसन्नता द्वारा भोग की रुचि का नाश कर काम रहित करने में समर्थ है और त्याग भी अहं और मम का नाश कर निर्वासना प्रदान करनें में समर्थ है । इस दष्टि से सुख तथा दुःख दोनों ही के सदुपयोग का समान फल है । यह रहस्य भलीभाँति जान लेने पर न तो साधक सुख की दासता में ही आवद्ध होता है और न दुःख से ही भयभीत होता है । उसके लिए सुख–दुःख दाँयें बाँयें पैर के समान अर्थ रखते हैं । अतः प्रत्येक परिस्थिति में साधक साधननिष्ठ हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है ।

तुम्हारा

.....

(५७)

खुदागंज

देहातीत प्रीति–स्वरूपा दुलारी बेटी, १०–७–१६५८

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, और कुछ नहीं । इस दृष्टि से

तुम अनन्त की ही विभूति हो । अपने द्वारा अपनी विस्मृति से ही तुम अपने को ऐसा मानने लगी हो जो कभी भी नहीं हो । मानव– जीवन अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित है । जब मानव अपने महत्त्व को भूल जाता है तब बेचारा वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों का दास बन जाता है और फिर अपने में अनेक प्रकार के अभावों का आरोप कर पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध हो जाता है । यह अपना ही बनाया हुआ दोष है । निज विवेक के आदर में ही अविवेक का नाश है । अविवेक के अन्त में ही असाधन का अभाव है । असाधन के अभाव मे ही साधन की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही अपने साध्य में अगाध, अनन्त, नित–नव प्रियता जाग्रत होती है, जो प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ है । अतः विवेकवती होकर जीवन की पूर्णता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है । सभी प्रियजनों को बहुत–बहुत मधुर स्नेह निवेदन करना ।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है । नीरसता का अन्त होने पर ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान की सरसता ही नीरसता का अन्त करने में समर्थ है । वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल आस्था ही वर्तमान को सरस बनाने में हेतु है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो । वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करो और सर्वथा उन्हीं की प्रीति होकर रहो, यही सफलता की कुंजी है । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । तुम्हारा

.....

(५८)

वृन्दावन

मेरे निज –स्वरूप परम आदरणीय, २६–१०–१९५८

सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत –बहुत प्यार ।

आशा तो यह थी कि साक्षात् दर्शन होगापर विधि के विधान में जो था वही मिला । कोई बात नहीं । जो कुछ होता है उसमें मंगल ही मंगल है । स्नेह तथा विश्वास की एकता होने पर देश की दूरी बाधक नहीं होती । मेरी सद्भावना और आपका स्नेह सदैव दूरी में

भी समीपता के समान ही प्रभाव रखता है, क्योंकि विश्वास तथा स्नेह की जो एकता है वह अभेद बना देती है । समीप रहने पर भी यदि स्नेह की एकता नहीं है तो भेद को ही पुष्ट करती है । अतः विधान के अनुसार समीपता हो या दूरी, उसमें वास्तविकता में असर नहीं पड़ता। इस दृष्टि से स्नेह की एकता ही वास्तविक एकता है । आपने आज्ञा दी है कि मैं परामर्श न देकर आज्ञा दिया करूँ । बात ठीक है—श्रद्धावान् परामर्श के स्थान पर आज्ञा ही पसंद करते हैं, परन्तु सार्वजनिक कार्य में विधान की प्रधानता होती है । वैधानिक दृष्टि से संघ में मेरा कोई स्थान नहीं है । ऐसा होना मेरी ही अपनी माँग है, क्योंकि मेरी यह भावना है कि मेरे पश्चात् भी मानव सेवा संघ का पौधा फलता —फूलता रहे । इसी कारण अपना वैधानिक अधिकार नहीं रखा है ।

मैं परामर्श क्यों देता हूँ —आज्ञा क्यों नही देता, इसमें भी एक रहस्य है । परामर्श देने पर साथी अपनी रुचि के अनुसार विचार करता है और आज्ञा देने पर वह अपनी रुचि को दबाकर बलपूर्वक कार्य में प्रवृत्त हो जाता है । रुचि के अनुसार कार्य करने में स्वाभाविकता अधिक रहती है और बलपूर्वक कार्य करने से धीरे—धीरे अस्वाभाविकता का जन्म हो जाता है, जो साधक के जीवन में और साधन में वास्तविक एकता नहीं होने देती । इसी कारण मैंजे आज्ञा न देकर परामर्श देने की नीति को अपनाया है । उस पर भी जिन मित्रों को परामर्श रुचिकर नहीं है—आज्ञा ही रुचिकर है, उन्हें उनकी आज्ञा मानकर आज्ञा देने का प्रयास करूँगा । अब तक मुझसे जो आज्ञा न देने की भूल हुई उसके लिए आप मुझे अपना जानकर क्षमा कीजिये । प्रेमास्पद के नाते आप सदैव मेरे और मैं आपका हूँ। पुनः बहुत—बहुत मधुर प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(५६)

मेरे निज—स्वरूप परम प्रिय, २०—११—१९५८

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । सर्व—समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रिय पुत्री को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाएँ और अपना प्रेम प्रदान करें, जिससे उसका जीवन उसके लिए, जगत् के लिए एवं प्रभु के लिए

उपयोगी सिद्ध हो । निरंतर आयु घट रही है, किन्तु कुछ लोग प्रमादवश यही सोचते हैं कि हम बड़े हो रहे हैं । यही वास्वविक माया है । इस माया को माया जान लेने पर मायापति की शरणागति प्राप्त होती है, जिसके प्राप्त होते ही प्राणी सर्व प्रकार से निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है । इस दृष्टि से शरण सफलता की कुंजी है।

बालिकाओं के रंग–रूप के सम्बन्ध में जो सामाजिक भावना बन रही है वह बड़ी शोचनीय है । जब बालिकाएँ रोटी के लिए विवाह नहीं करेगी, तभी यह भावना नष्ट होगी । वास्तव में विवाह एक निश्चित कार्यक्रम है, जो होना होगा, होगा ही । उसके लिए चिन्ता करना भूल है । दिल की सफाई व चरित्र का सौन्दर्य तथा योग्यता का आभूषण बालिकाओं की रक्षा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

मूक सत्संग समस्त साधनों की भूमि तथा फल है, क्योंकि विश्राम से ही श्रम की उत्पत्ति होती है एवं विश्राम में ही श्रम विलीन होता है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता तथा शरणागति अपना लेने पर मूक सत्संग हो जाता है, किया नहीं जाता ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(६०)

वृन्दावन
२६–११–१६५८

मेरे निज–स्वरूप परम उदार,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

मानव सेवा संघ की नीति तथा विचारधारा मानव मात्र के लिए हितकर है । जिस प्रकार भूमि प्रत्येक पौधे को विकसित करने के लिए उपयोगी होती है उसी प्रकार मानव सेवा संघ की विचारधारा मानव मात्र के लिए उपयोगी तथा हितकर है । मानव में जो बीज रूप से मानवता विद्यमान है उसी को विकसित करना है । मानवता में पूर्णता निहित है, यह निर्विवाद सत्य है । मानव–जीवन की यह महिमा है कि मानव अपने लिए, जगत् के लिए एवं प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध

होता है । इस पवित्रतम उद्देश्य के लिए मानव सेवा संघ ऐसे साधकों की आवश्यकता अनुभव करता है, जो आजीवन कार्यकर्त्ता हों । पुनः आपको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(६१)

२५–१२–१९५८

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

संयोग–वियोग विधान के अधीन हैं । संयोग में सेवा व वियोग में प्रीति साधन–रूप है । सेवा स्वार्थ को खाकर सेव्य की प्रीति प्रदान करती है और प्रीति अहं को खाकरर प्रीतम को रस देकर कृतकृत्य होती है, अथवा यों कहो कि प्रीति का क्रियात्मक रूप ही सेवा है और प्रीति का विवेकात्मक रूप ही बोध है और प्रीति का भावात्मक रूप ही प्रीतम को रस देना है । 'यह' प्रीतम का सेवा–क्षेत्र है, और 'वह' प्रीतम का निज स्वरूप है, और 'मैं' प्रीतम की प्रीति है । 'यह', 'वह', 'मैं' तीनों ही स्वरूप से एक हैं । 'यह' की सेवा 'वह' का प्रेम 'मैं' का स्वभाव है । सेवा व प्रेम ही जीवन है । शरीर में अहं–बुद्धि अकर्त्तव्य की जननी है । अकर्त्तव्य देहाभिमान को और कर्त्तव्य, जिज्ञासा को जन्म देता है । जिज्ञासा की जागृति देहाभिमान को खाकर तत्त्व–ज्ञान से अभिन्न कर देती है ।

विश्राम की भूमि में जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है । सेवा का अन्त स्वतः विश्राम में होता है । विश्राम कल्पतरु के समान है, जो सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है ।

जो कर रहे हैं वही पूजा और जो हो रहा है वही लीला है । करना होने में विलीन होने पर बस लीला ही लीला है, और कुछ नहीं । जिसकी लीला है वही अपने हैं, यही भजन है । आत्मीयता में ही प्रियता है एवं प्रियता में ही प्रीतम की प्रसन्नता है । प्रीतम की प्रसन्नता में ही जीवन की पूर्णता है ।

तुम्हारा

.....

(६२)

होशंगाबाद
७–१–१९५६

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

निज विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए दोषों का त्याग और की हुई भूल को न दोहराना ही साधन–निर्माण में हेतु है । असाधन–रहित होने पर अल्प से अल्प साधन से भी सिद्धि होती है और असाधन के साथ–साथ किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धि नहीं देता है, कालान्तर में भले ही उसका फल हो । जाने हुए असत्य के संग से ही समस्त असाधनों की उत्पत्ति होती ह । जब साधक निज ज्ञान के प्रकाश में विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग कर देता है तब अनन्त काल के उत्पन्न हुए समस्त असाधन वर्तमान में ही नष्ट हो जाते हैं, किये हुए असाधन की स्मृति–मात्र रह जाती है, जिसका नाश स्मृति से असहयोग करने पर अपने आप हो जाता है। जो कुछ हो रहा है उससे असंग हो जाओ । जाने हुए के प्रभाव से किए हुए का प्रभाव नष्ट कर दो और सुने हुए प्रभु में अविचल श्रद्धा कर सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो ।

प्यारी बेटी, तुम्हारा निज–स्वरूप अनन्त की अनुपम प्रीति है। तुम देहाभिमान को त्याग प्रीति से अभिन्न हो अपने ही में अपने प्रीतम को नित–नव रस प्रदान कर सकती हो । प्रीति प्रीतम का स्वभाव और तुम्हारा जीवन है ।

प्यारी बेटी, जब साधक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करता है तब प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः प्रेमास्पद की मधुर स्मृति जाग्रत होती है, जो प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ है । मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की ममता का त्याग कर दो। यह भलीभाँति जान लो कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह न तो उसका है और न उसके लिए है । मिले हुए के द्वारा विश्व–भगवान की सेवा की जा सकती है । सेवा करने की सामर्थ्य उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है जो दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होते हैं । सेवा मानव–जीवन को जगत् के

लिए उपयोगी सिद्ध करती है । विवेकपूर्वक असंग होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है । जिसके होते ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है । प्यारे प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करते ही प्रियता जाग्रत होती है, जिसके होते ही जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है । इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है ।.....मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है ।

तुम्हारा

.....

(६३)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप १–२–१६५६

मानव सेवा संघ का उद्देश्य अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण करना है । अपने अधिकारों के त्याग में ही अपना कल्याण तथा दूसरे के अधिकार की रक्षा में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है, जिसकी आवश्यकता मानव मात्र को है । मानव सेवा संघ कोई मत, दल तथा संस्था नहीं है । वह तो मानव–मात्र की माँग है । उसकी आवश्यकता तो सभी देशों को, सभी जातियों को तथा सदस्यों को है, क्योंकि मानव मानव होकर ही जो कुछ होना चाहे हो सकेगा । जिस प्रकार सभी पौधे भूमि पर ही उपजते हैं उसी प्रकार सभी विकास मानवता आने पर होता है । विवेकपूर्वक अपने को निर्दोष बनाना परस्पर में एकता को बढ़ाता है तथा अपने कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकारों की रक्षा मानव सेवा संघ का दैनिक कार्यक्रम है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका अभेदस्वरूप

.....

(६४)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २१–३–१६५६

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ–न–कुछ अर्थ

रखती है । विचारशील अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाते हैं और साधारण प्राणी अर्थ पर निष्ठा न रखकर घटनाओं का चिन्तन करते हैं जो वास्तव में अविवेक–सिद्ध है ।

अकाल मृत्यु क्या है, इसपर विचार करने से ऐसा ज्ञात होता है कि प्राणों के रहते हुए कामनाओं का अन्त हो जाने पर जब मृत्यु होती है तब उसे काल मृत्यु समझना चाहिये –कामनाओं के रहते हुए प्राणों का अन्त होना अकाल मृत्यु है । वह चाहे जिस प्रकार से हो, चाहे जितनी आयु में हो । साधारण प्राणी घटना विशेष से होने वाली मृत्यु को अकाल मृत्यु कहते हैं । पर वास्तव में यह बात युक्तियुक्त नहीं है । गंभीरता से विचार कीजिये, जन्म से ही मृत्यु का प्रवाह आरम्भ हो जाता है –संयोग काल से ही वियोग का, पर हम अविवेक के कारण इस विधान पर दृष्टि नहीं रखते यह हमारा प्रमाद है ।

मुझे जीवन की घटनाओं ने यह पाठ पढ़ाया है कि माता–पिताके लिए पुत्र का और पत्नी के लिए पति का वियोग बड़ा ही दुःखमय है । मैंने वह दृश्य देखा है कि मेरे जन्म होने से जन्म देने वाले माँ–बाप को घोर दुःख सहना पड़ा । मरणासन्न दशा में पिताजी का यह वाक्य कि मुझे इस लड़के का ख्याल है, भूलता नहीं । भला,सन्तान पिता को चैन से मरने भी नहीं देती, इस दुःख से दुखी होकर सोचने लगा कि कोई ऐसा उपाय हो कि मेरे द्वारा अब किसी माँ–बाप को दुःख न हो, भाई के रूप में बहिन को दुःख न हो और पति के रूप में पत्नी को दुःख न हो, । अनन्त की अहैतुकी कृपा से उसका उपाय मिला। संयोग में ही वियोग का, जीवन में ही मृत्यु का दर्शन करने से उस दिव्य जीवन से अभिन्नता होती है जो जीवन किसी के लिए भी दुःख–कर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर ही होता है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । आपका

.....

६५

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स, ऋषिकेश

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो । १६–५–१९५६

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । निस्सन्देह प्रत्येक परिस्थिति प्रभु के मंगलमय विधान से निर्मित है, परन्तु उसके सदुपयोग में साधक

सर्वदा स्वाधीन है । जब किसी साथी के प्रति विश्वास नहीं रहता तब उसके साथ व्यवहार करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है ।.....मन में किसी को बुरा मत समझो । बेईमान से बेईमान भी किसी के लिए बहुत बड़ा ईमानदार होता है । इस विधान में आस्था करो । उसके दुःख से दुःखी होना आवश्यक है । पर जो नहीं कर सकते उसका करना उचित नहीं है ।

आस्तिक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा प्रभु की पूजा करता है और कर्म के अन्त में उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहता है, यही महामंत्र है जीवन की सफलता का । मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। प्रत्येक दशा में शान्ति सुरक्षित रखो। शान्ति भंग होने पर कर्त्तव्य की विस्मृति होती है । अतः शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा

.....

(६६)

ऋषिकेश

साधननिष्ठ स्नेहमयी, १६–५–१६५६

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला । निज विवेक के प्रकाश में शरीर इन्द्रिय,प्राण ,मन,बुद्वि आदि से सम्बन्ध –विच्छेद करना परम आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना किये निर्वासना नहीं आती ,जिसके बिना दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती । इस दृष्टि से संयोग में वियोग का दर्शन अनिवार्य है । यह सभी साधकों को विदित है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं से नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है कारण कि उनसे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है । जिन वस्तुओं से नित्य सम्बन्ध नहीं है उनकी ममता का त्याग आवश्यक है और जिस प्रभु से जातीय तथा स्वरूप की एकता है उस प्यारे प्रभु से जो साधक सरल विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर लेता है और विवेकपूर्वक शरीर आदि वस्तुओं की ममता से रहित हो जाता है वह बड़ी ही सुगमतापर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है । और परम प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है । आत्मीयता में प्रेम और

असंगता में स्वाधीनता निहित है । इन दोनों की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। परिस्थिति के अनुसार जो कर्त्तव्य कर्म उपस्थित है उसे पूजा–भाव से पूरा करो। किसी से सुख की आशा न करो । अपने दुःख का कारण और किसी को मत मानो, तो फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग–द्वेष का नाश हो जाएगा–जिसके होते ही जीवन में त्याग तथा प्रेम की गंगा लहरायेगी त्याग में चिरशांति तथा प्रेम में अगाध, अनन्त नित रस निहित है । इस दृष्टि से त्याग तथा प्रेम में ही जीवन की पूर्णता निहित है । विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त होने पर कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है, जो सफलता की कुंजी है। सब प्रकार से प्यारे प्रभु की होकर रहो । उनकी मधुर स्मृति को ही अपना जीवन मानो। उन्हीं के नाते सभी की सेवा करनी है। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक का परम बल है ।

तुम्हारा

.....

६७

वृन्दावन

स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी माँ, १५–७–१९५६

सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह।

कल यहाँ आने पर पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला.....। देखो माँ ! निज विवेक के प्रकाश में यह स्पष्ट विदित होता है कि उत्पन्न हुई किसी भी वस्तु से अपना नित्य सम्बन्ध नहीं है । जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है । ममता का अन्त होते ही निर्विकारता स्वतः आ जाती है । इतना ही नहीं जिस प्रभु से जातीय एकता है उनमें अविचल श्रद्धा, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता स्वतः जाग्रत होती है, जिसके होते ही अगाध प्रियता उदित होती है। प्रियता स्वरूप में दिव्य, चिन्मय तथा रसरूप है और प्रियता में ही जीवन की पूर्णता निहित है । नित–नव रस की माँग, साधक की अपनी माँग है जिसकी प्राप्ति प्रियता में और प्रियता आत्मीयता में निहित है ।

आत्मीयता ही वास्तविक भजन है और ममता का अन्त ही वास्तविक साधन है । भजन –साधन के लिए ही मानव जीवन है ।

इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक सिद्धि पाता है । सिद्धि से निराश होना परम भूल है । साधक वही है जिसके जीवन में सिद्धि के लिए नित–नव आशा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । यह तभी सम्भव होगा जब विवेकपूर्वक शरीरादि वस्तुओं का अन्त और अविचल श्रद्धापूर्वक प्रभु में आत्मीयता स्वीकार कर ली जाय। प्रत्येक साधक ममता के नाश तथा आत्मीयता की स्वीकृति में स्वाधीन तथा समर्थ है । अपने दायित्व को पूरा करने में साधक लेशमात्र भी असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है । दायित्व की पूर्ति और सफलता युगपद् है । जिस प्रकार सूर्यका उदय, प्रकाश की प्राप्ति एवं अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है उसी प्रकार ममता का नाश एवं आत्मीयता की स्वीकृति तथा प्रियता की अभिव्यक्ति युगपद् है । अतः प्रत्येक कार्य को प्यारे प्रभु के नाते करते हुए उन्हीं की मधुर स्मृति जागृत कर प्रीति से अभिन्न होना अनिवार्य है ।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द ।

आपका

.....

(६८)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १५–८–१९५९

सर्वदा शांत तथा प्रसन्न रहो ।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला । मूक सत्संग समस्त साधनों की भूमि है और समस्त साधन मूक सत्संग में ही विलीन होते हैं । इस दृष्टि से आदि और अन्त मूक–सत्संग में ही निहित है ।

समस्त असाधनों की उत्पत्ति का मूल जाने हुए असत् का संग है । जब तक साधक सर्वांश में जाने हुए असत् का त्याग नहीं करता तब तक असाधन का सर्वांश में नाश नहीं होता । असाधन के साथ–साथ किया हुआ साधन कालान्तर में भले ही फलदायक हो, किन्तु वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है । इस कारण जाने हुए असत् के संग के त्याग का दायित्व प्रत्येक साधक पर है ।

मूक सत्संग के बिना विद्यमान असाधन प्रकट नहीं होते । यह नियम है कि जब तक बनी हुई वस्तु प्रकट नहीं होती तब तक उसका

नाश नहीं होता । असहयोग का अर्थ केवल इतना ही है कि उत्पन्न हुए विकारों से तादात्म्य स्वीकार न किया जाय । जिससे असहयोग कर लिया जाता है कि वह अपने आप नाश हो जाता है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(६६)

कैंप लाडनूं

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ११–६–१९५६

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

.....मन की ममता का त्याग मन को शुद्ध तथा शान्त करने का अचूक उपाय है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने अनुत्पन्न हुए अनन्त में अविचल आस्था की है और उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता का विवेकपूर्वक अन्त कर दिया है । बिना आधार के मन स्थिर नहीं रहता; यह देहाभिमान का परिचय है, और कुछ नहीं । यदि आधार से मन सदा के लिए स्थिर होता तो संकल्प के साथ–साथ विकल्प न होता । यह सभी साधकों का अनुभव है कि जिसमें बलपूर्वक मन लगाते हैं उससे मन अपने आप हट जाता है और जिससे मन को बलपूर्वक हटाते हैं उसमें अपने आप लग जाता है । लगाने और हटाने के प्रयास ने मन को स्थिर नहीं होने दिया । क्रियाशीलता, चिन्तन तथा स्थिरता, ये सभी अवस्थाएँ हैं । अवस्थाओं में परिवर्तन स्वाभाविक है । अतः किसी अवस्था का आश्रय लेकर चिर–विश्राम सम्भव नहीं है । चिर–विश्राम राग–रहित होने पर ही सम्भव है । केवल अभ्यास के आश्रित शान्ति को सुरक्षित रखना भ्रम–मात्र ही है । वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को पवित्र भाव से करना विद्यमान राग की निवृत्ति का अचूक उपाय है और सुख के प्रलोभन का अन्त कर देना ही, नवीन राग उत्पन्न न हो, इसका उपाय है । सुख के प्रलोभन में ही दुःख की उत्पत्ति निहित है । दुःख का वास्तविक प्रभाव सुख के प्रलोभन को खा लेता है, और फिर दुःख सदा के लिए विदा हो जाता है । अचाह होने पर अप्रयत्न स्वतः आ जाता है । निज विवेक के प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि से इन्द्रिय–दृष्टि के प्रभाव का अन्त कर दो,

तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक कार्य के अन्त में स्थिरता सुरक्षित रहेगी । स्थिरता में ही सामर्थ्य तथा विचार एवं प्रेम की जागृति होती है । यह निर्विवाद सत्य है । मुझको कुछ नहीं चाहिए, इस निर्णय में विकल्प मत करो । चाह–रहित होने पर उत्पन्न हुए संकल्पों का न तो समर्थन ही करना है और न विरोध । इतना ही नहीं, निर्विकल्पता में भी रमण नहीं करना है । संकल्प तथा विकल्प एवं निर्विकल्पता, ये तीनों ही अवस्थाएँ हैं और उत्पत्ति–विनाशयुक्त हैं । इनसे विमुख हो जाओ । अपने ही में बिना किसी प्रयास के अपने प्रेमास्पद को पाकर सभी साधक कृतकृत्य हो जाते हैं.....।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

आपका

.....

(७०)

श्रीगंगानगर

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स, २४–६–१९५६

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

.....दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होना साधक का सहज स्वभाव है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी के दुःख को मिटा सकता है । दुःख का अन्त करने में तो सर्व–समर्थ दुःखहारी हरि ही समर्थ हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से दुःख का पूरा–पूरा प्रभाव हो जाने पर सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता और फिर दुःख अपने आप मिट जाता है । दुःख मंगलमय विधान से आता है । उससे भयभीत होना भूल है । दुःख में प्यारे प्रभु की अनुपम कृपा का दर्शन करना आस्तिक का स्वभाव है । किसी को बुरा मत समझो और किसी का बुरा मत करना । बस, अपने आप बुराई नाश हो जायेगी.....। पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(७१)

.....

साधननिष्ठ स्नेहमयी माँ, २२–४–१९६०

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

मानव–जीवन का महत्त्व साधननिष्ठ होने में ही है । वह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने बनाये हुए प्रमाद का अन्त कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय । निज विवेक के आदर में ही प्रमाद का नाश निहित है । मिली हुई किसी भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति में ममता करना, उसका दुरुपयोग करना एवं अप्राप्त वस्तु आदि की कामना रखना प्रमाद का ही कार्य है । जब साधक विवेकपूर्वक यह अविचल निर्णय कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, उसका दुरुपयोग नहीं करना है और न अप्राप्त वस्तु की कामना, तब अपने आप निर्विकारिता, कर्त्तव्यपरायणता और निर्विकल्पता अर्थात् स्थिरता स्वतः आ जाती है । निर्विकारिता अपने लिए और कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए हितकर सिद्ध होती है । कर्त्तव्य पालन आस्तिक की पूजा है, अध्यात्मवादी का साधन है । पूजा का अन्त प्रेमास्पद की प्रियता में स्वतः बदल जाता है, अर्थात् जिसकी हम पूजा करते हैं, अन्त में उसी की प्रीति से अभिन्न हो जाते हैं । प्रीति से अभिन्न होते ही मानव–जीवन की पूर्णता स्वतः प्राप्त होती है । कारण कि प्रीति ही वह अलौकिक तत्त्व है जिसमें प्रेमास्पद को रस मिलता है । निर्विकारिता अपने लिए, कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए तथा प्रीति प्रभु के लिए उपयोगी है । ये सभी बातें मानव–जीवन में प्राप्त हो सकती हैं । इस पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मानव–जीवन मिला है । प्रमाद का नाश एकमात्र जाने हुए असत्य के त्याग में ही निहित है । अपने जाने हुए असत्य का त्याग प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है । असत्य के संग से ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति उत्पन्न होती है । असत्य का त्याग करते ही अकर्त्तव्य कर्त्तव्यपरायणता में, असाधन साधन में और आसक्ति प्रीति में परिवर्तित हो जाती है ।

इस दृष्टि से जाने हुए असत्य के त्याग में ही पुरुषार्थ की परावधि है और यही वास्तविक सत्संग है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका

.....

(७२)

रांची
३१–१०–१९६०

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

बहुत–बहुत प्यार ।

सरलता, ईमानदारी तथा स्नेह से भरा पत्र मिला । सुन्दर कार्य करने के लिए ईमानदारी, परिश्रम और हृदय में उत्कट लालसा तथा व्याकुलता की अत्यंत आवश्यकता है । अतः तुम्हारे हृदय में सर्वहितकारी सद्भावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए । दुःखियों को देखकर करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने का स्वभाव बनाओ, जो वास्तविक सेवा है । सद्भावनाएँ स्वतः भाषा का निर्माण कर लेतीं हैं । मन से भय निकाल दो । की हुई भलाई के बदले में किसी प्रकार की आशा मत करो । मिले हुए पद को देने वालों की उदारता मानों, अपनी महिमा मत समझो । ज्यों–ज्यों निरभिमानता तथा निष्कामता को अपनाते जाओगे और मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग करते जाओगे, त्यों–त्यों आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आती जायेगी, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। शारीरिक श्रम और हृदय की सद्भावना से बहुत बड़ा काम हो सकता है । संसार में निर्धनों के द्वारा जो सेवाएँ हुई हैं वे धनियों के द्वारा नहीं हो सकीं हैं । अतः धन की वासना का त्याग कर सद्भाव तथा शरीर के द्वारा सेवा करने का स्वभाव बनाओ ।

वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है, इस महामंत्र पर आस्था करो । कुटुम्बी जनों को आदर तथा प्यार देते रहो । उनसे सुख की आशा मत करो । इस उपाय से पारिवारिक जीवन सुन्दर बन जायेगा । मानव सेवा संघ के मूल सिद्धान्तों का मनन करते रहो। सेवा, त्याग और प्रेम में ही जीवन की पूर्णता निहित है । पुनः आपको बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा

.....

(७३)

बलरामपुर

स्नेहमयी साधननिष्ठ २०–३–१९६१

सप्रेम हरिस्मरण ।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है । प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का अधिकार है, परिस्थिति–परिवर्तन में नहीं । अतः प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म आस्तिक की पूजा और जिज्ञासु का साधन है । परन्तु जब तक साधक ममतारहित निष्कामतापूर्वक प्यारे प्रभु में आत्मीयता स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक कार्य में पूजा–भाव दृढ़ नहीं होता । पूजा–भाव दृढ़ होते ही स्वतः कार्य के अन्त में प्रीति की जागृति होती है । प्रीति प्रेमी को प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है । इस दृष्टि से प्रीति की जागृति में ही जीवन की पूर्णता है । एकमात्र प्यारे प्रभु ही अपने हैं । शरीर आदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है । ममता–रहित होते ही निर्लोभता निर्मोहता, निरभिमानता आदि सभी दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है । परन्तु विचारशील साधक निर्विकारता में सन्तुष्ट नहीं होता । तब स्वतः निरभिमानतापूर्वक प्यारे प्रभु की आत्मीयता में ही अगाध प्रियता और प्रियता में ही अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है, जो वास्तविक जीवन है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(७४)

मुजफ्फरनगर

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स, ४–७–१९६१

बहुत–बहुत प्यार ।

.....यदि गम्भीरतापूर्वक विवेक के प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि से देखा जाय तो यह प्रत्यक्ष ही सिद्ध है कि समस्त दृश्य सतत परिवर्तित हो रहा है । इस कारण दृश्य की प्रतीति को अस्तित्व के रूप में स्वीकार

करना भारी भूल है । दृश्य से विमुख हो, प्रकाशक के शरणागत हो, परम शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से अभिन्न होने में ही वास्तविक जीवन है । इसी जीवन के लिए मानव–जीवन साधन–रूप है । अतः शीघ्रातिशीघ्र प्रत्येक मानव को अनित्य जीवन का सदुपयोग करते हुए नित्य जीवन से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है ।

प्रत्येक परिस्थिति तत्त्व–दृष्टि से एक अवस्था है और भौतिक दृष्टि से गतिशील प्रतीति है एवं आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अनुपम लीला है । अतः प्रत्येक दशा में शान्ति का सम्पादन करना अत्यंत आवश्यक है । जो हो रहा है उससे असहयोग, जो कर रहे हो उसमें सावधान और जो 'है' उसमें अगाध प्रियता ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है..... । अल्पकाल का सत्संग भी महान अर्थ रखता है । पर यह रहस्य सत्संग–प्रेमी ही जानते हैं । निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना ।

तुम्हारा

.....

(७५)

चरथावल
३१–७–१९६१

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

बहुत–बहुत प्यार ।

.....ज्यों–ज्यों साधक अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होता है त्यों–त्यों असत्य के त्याग की सामर्थ्य आती है । असत्य का त्याग और सत्य का संग युगपद् है । असत्य के संग से ही समस्त असाधनों की उत्पत्ति होती है । सत्य का संग और असाधनों का नाश एवं साधनों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सर्वांश में अपने जाने हुए असत्य का त्याग किया है, अर्थात् जिनके जीवन में ममता, कामना तथा तादात्म्य की गंध भी नहीं है उन्हीं का जीवन निर्विकारता, स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता तथा अपरिछिन्नता से अभिन्न होता है, जो वास्तविक जीवन है ।

मानव सेवा संघ की साधन–प्रणाली में मानव मात्र को स्वाधीनतापूर्वक साधननिष्ठ होने की प्रेरणा है । प्राकृतिक नियमानुसार स्वाधीनता–प्राप्ति का साधन भी स्वाधीन है । इसी दृष्टि से अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अनिवार्य है । जो साधक अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नहीं होते वे सत् पुरुषों और सद्ग्रन्थों के आदेश का भी सवांश में पालन नहीं कर पाते । इस कारण प्रत्येक साधक पर यह दायित्व है कि वह शीघ्रातिशीघ्र, अर्थात् वर्तमान में ही अपने जाने हुए का आदर कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाए । ऐसा करते ही अनन्त की अहैतुकी कृपा स्वतः साधक को साधन–तत्त्व से अभिन्न कर देती है–यह निर्विवाद सिद्ध है । अपने जाने हुए का अनादर करते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन साधक को साधन–तत्त्व से अभिन्न नहीं कर पाता । यद्यपि किया हुआ साधन कभी नाश नहीं होता, परन्तु सत्संग के बिना साधन और जीवन में अभिन्नता नहीं होती, जिसके बिना हुए सहज स्नेह तथा परम शान्ति एवं स्वाधीनता तथा सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है । इस दृष्टि से जाने हुए असत् के त्यागपूर्वक सत्संग में ही पुरुषार्थ की परावधि है, जो एकमात्र जाने हुए के आदर में ही निहित है । निकटवर्ती प्रियजनों तथा सत्संग–प्रेमियों को बहुत–बहुत प्यार निवेदन करना । पुनः सभी को बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(७६)

बटाला

साधननिष्ठ स्नेहमयी, २८–८–१९६१

सादर यथोचित तथा हरिस्मरण ।

मानव–जीवन अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित है । इस कारण मानव–जीवन की बड़ी महिमा है । मानव जाने हुए असत् का त्याग कर सत्संग द्वारा कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता प्राप्त कर सकता है । कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी

होता है और असंगता से अपने लिए, कारण कि असंग होते ही स्वतः वासनाओं का नाश हो जाता है । निर्वासना प्राप्त होते ही परम शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है । शान्ति से सामर्थ्य और स्वाधीनता से अमर चिन्मय जीवन की प्राप्ति होती है । इस दृष्टि से असंगता अत्यंत आवश्यक है । आत्मीयता में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, कारण कि जो अपना है वह स्वभाव से ही अपने को अत्यंत प्रिय है । प्रियता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है । प्रेम प्रभु को प्रिय है, अर्थात् प्रेम से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है । इस दृष्टि से प्रेम की जागृति अत्यन्त आवश्यक है, जो एकमात्र प्रभु को अपना मानने से ही सम्भव है ।

इस दृष्टि से निमर्मता, निष्कामता एवं आत्मीयता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है । जिसने आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक प्रभु को अपना मान लिया और विचारपूर्वक ममता तथा कामना का त्याग कर दिया उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया । निमर्मता से निर्विकारता और निष्कामता से परमशान्ति तथा स्वाधीनता एवं आत्मीयता से अगाध प्रियता जाग्रत होती है, जो वास्तविक जीवन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(७७)

आनन्द भवन
नासिक रोड
६–७–१९६२

स्नेहमयी साधननिष्ठ

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

प्रत्येक कार्य के आदि और अंत में श्रम–रहित, अर्थात् मूक सत्संग अनिवार्य है, कारण कि उसके बिना देहाभिमान नाश नहीं होता। देहाभिमान–रहित हुए बिना किसी की भी निर्विकारता, परम–शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य जीवन से अभिन्नता नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है । श्रम–रहित होते ही देहातीत जीवन से स्वतः अभिन्नता हो जाती है । यद्यपि वह जीवन सभी को नित्य प्राप्त है,

परन्तु देह के तादात्म्य होने से उस नित्य प्राप्त जीवन से दूरी, भेद तथा भिन्नता भासती है । अतः शीघ्रातिशीघ्र देहाभिमान–रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक सत्संग से ही साध्य है । जब तक साधक को अपने लिए कुछ करना है तब तक देहाभिमान नाश नहीं होता । जिसे अपने लिए कुछ भी नहीं करना है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक देहाभिमान–रहित हो जाता है । पर यह रहस्य मूक सत्संग के बिना स्पष्ट नहीं होता । मूक सत्संग ही वास्तविक सत्संग है । सत्–चर्चा तथा सत्–चिन्तन से सत्संग की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जिसके होते ही बड़ी सुगमतापूर्वक साधक देहाभिमान–रहित हो सकता है, जो विकास का मूल है । जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है उसका आश्रय बनाये रखने से देहाभिमान पोषित होता है । उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं से मानव की जातीय भिन्नता है और अनुत्पन्न हुए नित्य प्राप्त अविनाशी परम तत्त्व से ही जातीय एकता है । जिससे जातीय भिन्नता है उससे असंगता और जिससे जातीय एकता है उसमें आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है । निर्मम तथा निष्काम होते ही असंग होने की सामर्थ्य स्वतः आती है और अविचल आस्था–श्रद्धा–विश्वास से आत्मीयता सजीव होती है । पुनः बहुत–बहुत मधुर स्नेह । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(७८)

वृन्दावन

स्नेहमयी साधननिष्ठ, २०–१२–१९६२

प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

यह मानव–मात्र का अनुभव है कि शरीर आदि किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से मानव का नित्य सम्बन्ध नहीं है, अपितु केवल मानी हुई एकता है । जिससे मानी हुई एकता है उसकी यथाशक्ति सेवा अर्थात् प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है । पर विचारपूर्वक सभी परिस्थितियों से असंग होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता से ही संभव है । निर्मम तथा निष्काम

होने में प्रत्येक मानव सदैव स्वाधीन है, कारण कि ममता और कामना का त्याग करने की स्वाधीनता मानव मात्र को जन्मजात प्राप्त है । यह अनुभव कि मिली हुई वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, मानव को निर्मम बनाती है । निज अनुभव के अनादर से ही ममता उत्पन्न होती है और ममता के कारण ही तादात्म्य हो जाने पर कामनाओं का जन्म होता है । कामना–पूर्ति–अपूर्ति ही मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करती है । दासता तथा भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रमादवश मानव अपने को भय, चिन्ता तथा नीरसता में आबद्ध कर लेता है, यही व्यक्तिगत जीवन की असफलता है । इस असफलता का अन्त हो सकता है । इसलिए प्रत्येक मानव को मिले हुए की ममता का तथा देखे हुए की कामना का त्याग करना अनिवार्य है । मिले हुए का दुरुपयोग न करने से कर्त्तव्यपरायणता और मिले हुए की ममता के त्याग से असंगता स्वतः अभिव्यक्त होती है । कर्त्तव्यपरायणता से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और असंगता से सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता स्वतः होती है, जिसके होते ही अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है, जो वास्तविक जीवन है । अतः निज अनुभव का आदर करते हुए प्रत्येक मानव को निर्ममता, निष्कामता तथा असंगता को अपनाकर वास्तविक जीवन से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है । अहंकृति–रहित होने से असत्य का त्याग तथा सत्य का संग स्वतः हो जाता है । अहंकृति–रहित होने के लिए फलासक्ति–रहित लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए वर्तमान कार्य को पूरा करना है और अनावश्यक कार्य का त्याग करना है, फिर अपने आप मानव अहंकृति–रहित हो जाता है । अहंकृति का नाश और चिर–विश्राम की अभिव्यक्ति युगपद् है । विश्राम में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है । अतः आलस्य, अकर्मण्यता–रहित चिर–विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है । बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(७६)

जसीडीह

स्नेहमयी साधननिष्ठ, ८–१–१९६३

सादर सप्रेम अभिवादन ।

विचारशील मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करते है, कारण कि प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु स्वभाव से ही विनाशोन्मुख रहती है । उसके लिए चिन्ता करना भूल है । जीवन के सदुपयोग का महत्त्व है, जीवन का नहीं । अल्प से अल्प काल के जीवन में भी वास्तविक जीवन की उपलब्धि हो सकती है । अतएव जीवन की अपेक्षा जीवन के सदुपयोग का ही अधिक महत्त्व है । इतना ही नहीं, अनन्त के मंगलमय विधान से साधक को साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि स्वतः प्राप्त होती है। अतएव बड़ी ही सजगतापूर्वक प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना अनिवार्य है । योग, बोध और प्रेम मानव–जीवन का चरम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। पर जाने हुए असत्य का त्याग न करने पर बेचारा प्राणी भोग, मोह, आसक्ति में आबद्ध हो जाता है । जाने हुए असत्य का त्याग करते ही स्वतः योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और भोग, मोह, आसक्ति स्वतः नाश हो जाती है । भोग–वासनाओं का मूल एकमात्र असत्य का संग ही है, और कुछ नहीं । जब साधक निज ज्ञान के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को देखता है तब स्वतः अपनी भूल का बोध हो जाता है । भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश निहित है । भूल–रहित होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है, यह मंगलमय विधान है । इस दृष्टि से भूल–रहित होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए । जाने हुए का अनादर ही भूल को जन्म देता है । इस कारण निज ज्ञान का आदर करना मानव–मात्र के लिए अनिवार्य है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(८०)

गीता भवन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स, २–५–१९६३

बहुत–बहुत प्यार ।

.....सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है । सत्संग का अर्थ है– अविनाशी का संग, अर्थात् जो सर्वत्र सर्वदा मौजूद है । इतना ही नहीं, जो सभी का अपना है उसी का संग सत् का संग है । सत्संग करते ही अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है, जिससे नीरसता का नाश हो जाता है और फिर स्वतः निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता सुरक्षित रहती है । स्वाधीनता और शान्ति में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसकी माँग सदैव सभी को है । अतः आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक जो सदैव सभी के हैं उन्हीं में आत्मीयता स्वीकार करना है । बस, फिर कुछ करना शेष नहीं रहता । सभी प्रियजनों को बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(८१)

वृन्दावन

स्नेहमयी साधननिष्ठ, ४–१०–१९६३

सादर सप्रेम हरिस्मरण ।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला । समस्त असाधनों का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति एकमात्र सत्संग से ही साध्य है । सत्संग मानव–मात्र का स्वधर्म है । उसके करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है । यह स्वाधीनता मानव को मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रदान की है । सत्संग के द्वारा प्रत्येक मानव साधन–निष्ठ हो सकता है । सत्संग का वास्तविक स्वरूप विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होने में निहित है, अथवा आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक समर्पण में । सत्संग के लिए अपनी ओर देखना, अपने सम्बन्ध में विचार करना अनिवार्य है । निज

विवेक के प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि से वर्तमान वस्तु–स्थिति का अध्ययन करो और जो प्रकाश मिले उसे अपनाकर कृतकृत्य हो जाओ । यही मेरी सद्भावना है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

८२

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ६–२–१९६४

राग–रहित होने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक निज विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखता है । अपनी ओर देखने का अर्थ अपने संबंध में विचार करना है । शांत रहने से ही अपने संबंध में विचार करने की सामर्थ्य आती है । अतः अहंकृति–रहित होकर शान्त रहना अनिवार्य है । आवश्यक कार्य पवित्र भाव से, विधिवत्, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए करने पर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक अहंकृति–रहित हो सकता है । सामर्थ्य तथा विवेक–विरोधी कर्म के त्याग से आवश्यक कार्य स्वतः होने लगता है । सही काम करने से करने का राग मिटता है और विश्राम मिलता है, पर कर्ता को निष्काम होना अनिवार्य है, तभी वह सही काम कर सकता है । कर्म का सम्बन्ध शरीर, परिवार तथा संसार से ही है । अपने लिए किसी भी साधक को कुछ भी नहीं करना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

८३

गीताभवन

स्नेहमयी साधननिष्ठ ४–५–१९६४

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

सत्संग मानव–मात्र का स्वधर्म है । निज विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखने से अपनी भूल का स्वतः ज्ञान हो जाता है और फिर

मानव भूल–रहित होकर साधन–निष्ठ हो जाता है । भूल कोई प्राकृतिक दोष नहीं है और न कोई उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है । निज ज्ञान के अनादर से ही भूल उत्पन्न होती है और आदर करते ही नाश हो जाती है । भूल के नाश में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है । भूल–रहित होते ही उदारता, असंगता और आत्मीयता उदित होती है । उदारता से जीवन जगत् के लिए एवं आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से जीवन जगत्पति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है । पर यह रहस्य सभी स्पष्ट होता है जब मानव शान्त होकर अपनी ओर देखने का स्वभाव बनाये और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग न करे, उसे अपना न माने, देहातीत जीवन में अविचल विश्वास करे एवं सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का ही होकर रहे, बस यही मानव–पुरुषार्थ की परावधि है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(८४)

राँची

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार, ३०–६–१९६४

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

अपनी निर्बलता का अपनी दृष्टि से परिचय हो जाने पर तथा लक्ष्य से निराशा न होने पर साधक में एक गहरी वेदना स्वतः जाग्रत होती है, जो सभी निर्बलताओं को खाकर साधक को साधन–निष्ठ कर देती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है । सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय देहाभिमान से ही जीवित रहता है । देहातीत दिव्य चिन्मय जीवन में अविचल आस्था हो जाने पर और वर्तमान में उसकी आवश्यकता अनुभव करने पर देहाभिमान गलाने की तीव्र लालसा जाग्रत होती है, जिसके होते ही आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त हो जाती है । किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, वास्तविक जीवन से लेशमात्र भी निराश नहीं होना चाहिए । अपनी निर्बलता का ज्ञान और सर्व–समर्थ प्रभु की महिमा में अविचल आस्था साधक को शरणागति

प्रदान करती है, जो सफलता की कुंजी है । प्रभु की महिमा का कोई पारावार नहीं है । उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं । जिसने किसी भी प्रकार एक बार भी उन्हें स्वीकार किया, उसका बेड़ा पार हुआ, ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है ।

सुख की दासता तथा दुःख का भय अवश्य मिट जायेगा, कारण कि मानव स्वभाव से ही स्वाधीनता का पुजारी है । सुख की दासता ही साधक को पराधीनता में आबद्ध करती है और दुःख को जन्म देती है । सुख की दासता ही मूल भूल है, जो एकमात्र सत्संग से ही नाश होती है । शान्ति का मूल्य ही है सुख के प्रलोभन का त्याग । सुख का भोगी चिरशान्ति नहीं पाता, अपितु दुःख का ही भोगी रहता है। सुख का भास पराधीनता से ही होता है और चिरशांन्ति स्वाधीनता से ही प्राप्त होती है । स्वाधीनता साधक को प्राप्त ज्ञान के प्रभाव से ही प्राप्त होती है । परिस्थितियों का महत्त्व पराधीनता में आबद्ध करता है । सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की माँग साधक को स्वाधीनता से अभिन्न करती है । इस कारण अपनी माँग से कभी भी निराश नहीं होना चाहिए । माँग की जागृति से ही काम की निवृत्ति और काम की निवृत्ति से ही चिरशान्ति की अभिव्यक्ति होती है, यह मंगलमय विधान है । सर्व–समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा के आश्रय में ही साधक का सर्वतोमुखी विकास निहित है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(८५)

दिल्ली

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २५–१०–१९६४

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

आस्तिक साधक के जीवन में भय चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि उसने सरल विश्वास पूर्वक सर्व–समर्थ प्रभु की महिमा को स्वीकार कर अपने को समर्पण कर दिया है । अपनी निर्बलता का परिचय भलीभाँति होते ही सहज भाव

से साधक परम कृपालु के निर्भर हो जाता है और फिर साधक को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता— सब कुछ प्रभु की अहैतुकी कृपा से स्वतः हो जाता है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्रत्येक परिस्थिति में प्यारे प्रभु की महिमा को अपनाया है और जो लक्ष्य से निराश नहीं है, अपितु अनेक निर्बलताओं के होते हुए भी जो एकमात्र प्यारे प्रभु के होकर ही रहते है, अर्थात् जिनके जीवन में से अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध का नाश हो गया है—केवल प्रभु विश्वास तथा प्रभु—संम्बन्ध ही शेष है । विश्वास से भिन्न विश्वासी का और कोई अस्तित्व नहीं है । विश्वास—पात्र स्वयं अपने विश्वासी को अपनाकर अपने से अभिन्न कर लेते हैं, यह प्रभु का सहज स्वभाव है । अतः शीघ्रातिशीघ्र आस्तिक साधक को अपने में से अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध का त्याग कर देना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(८६)

बाराबंकी
२७—११—१९६४

परम आस्तिक साधननिष्ठ परम उदार प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण ।

परिस्थिति—परिवर्तन में मानव स्वाधीन नहीं है, उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है । सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन की उपलब्धि में मानव का जन्मजात अधिकार है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है । संकल्पपूर्ति और अपूर्ति विधान के अधीन हैं । विचारपूर्वक उनके सुख—दुःख से असंग होना है, परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है तब मानव संकल्प—पूर्ति में अपने को असमर्थ पाता है । इसी कारण साधननिष्ठ साधक अपना कोई संकल्प नहीं रखते । परिस्थिति के अनुसार जो सम्भव होता है उसे पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करते रहते हैं । अपना संकल्प न रखने

पर कर्त्तव्य–पालन में कोई बाधा नहीं होती, अपितु नि–संकल्प होने पर कर्त्तव्य–पालन सुलभ हो जाता है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(८७)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, १६–३–१९६५

बहुत–बहुत प्यार ।

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।..... रोगावस्था में शरीर की वास्तविक अवस्था का अनुभव सुगमतापूर्वक हो जाता है । पर तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अर्थात् देहातीत दिव्य चिन्मय जीवन के अधिकारी हो । तुम्हारी जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध सर्व–समर्थ प्यारे प्रभु से ही है । तुम सदैव उनके और वे तुम्हारे हैं। अन्तर केवल इतना है कि वे जानते हैं और तुम मानते हो । वे निरन्तर तुम्हें देख रहे हैं । तुम सदैव उनकी गोद में हो । अतः उन्हें लाड़ लड़ाते हुए उन्हीं की लीला देखते रहो । यही सफलता की कुंजी है। शरीर आदि सभी वस्तुएँ उन्हीं से प्रकाशित हैं और उन्हीं की सत्ता से सत्ता पाती हैं । तुम्हारी दृष्टि उन्हीं पर रहे, वस्तुओं पर नहीं । जो जल देखता है उसे लहर और समुद्र नहीं दीखते । इसी प्रकार जिसकी दृष्टि अपने प्यारे पर लगी रहती है उसे फिर सृष्टि नहीं दीखती है, अथवा यों कहो कि सृष्टि में भी उन्हीं की लीला दिखाई देती है । अनेक रूपों में अनेक प्रकार से अपने प्यारे को दुलार करते रहो । उनका प्यार ही तुम्हारा जीवन है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, यही मेरी सद्भावना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(८८)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय, ५–४–१९६५

बहुत–बहुत प्यार ।

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो । विद्यालय की पत्रिका समिति का मैं आभार मानता हूँ कि जिसने इस साधारण मानव का स्मरण किया । यदि समिति अपने प्रश्न भेजती तो मुझे उत्तर लिखवाना बहुत ही सहज था । लेख लिखाने की आदत भी नहीं है और कोई लेख नाम से छपता भी नहीं है । अब आप ही बताइये, क्या लिखा जाय। मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक विद्यालय भावी समाज के निर्माण का मन्दिर है । इस कारण अध्यापन कार्य के समान और कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है और विद्यार्थी जीवन ही मानव के विकास की भूमि है । इसी दृष्टिकोण को लेकर दो शब्द लिखवा रहा हूँ ।

अध्यापन का कार्य निर्वाह मात्र के लिए नौकरी नहीं है । जिनके हृदय में सुन्दर मानव के निर्माण की पीड़ा है, जिनका मस्तिष्क स्वस्थ है और जो अपने–अपने विषय में प्रवीण हैं वे ही महानुभाव अध्यापन–कार्य के अधिकारी हैं । प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में सच्चरित्रता तथा लोकहित की भावनाओं को जगाना और शिक्षा के द्वारा उसके व्यक्तित्व को सुन्दर बनाना अत्यन्त आवश्यक है । पर यह तभी संभव होगा जब इसका चित्र विद्यार्थी को अध्यापक के जीवन में दिखाई दे । इतना ही नहीं, प्रत्येक अध्यापक को अपना विद्यार्थी अपनी संतान से कम प्रिय न हो और प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में जन्म देने वाले माता–पिता से कहीं अधिक अध्यापक के प्रति श्रद्धा हो । इसके लिए विद्यार्थी और अध्यापक परस्पर बैठकर कुछ समय विचार–विनिमय किया करें, जिससे एक दूसरे की कठिनाइयों का भलीभाँति अनुभव हो सके ।

प्रत्येक विद्यार्थी अपने आचार्य में योग्यता के साथ–साथ सहयोग तथा सद्भावना देखना चाहता है और प्रत्येक अध्यापक स्वभाव से अपने विद्यार्थियों से श्रद्धा, विश्वास तथा सम्मान की आशा रखता है, कारण कि किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार होता

है । जब मानव–समाज में कर्त्तव्यपरायणता नहीं रहती तब अधिकार–लोलुपता बढ़ जाती है, जो विनाश का मूल है । प्राकृतिक नियम के अनुसार अधिकार कर्त्तव्य का दास है । कर्त्तव्यनिष्ठ मानव के पीछे–पीछे अधिकार दौड़ता है । इतना ही नहीं, कर्त्तव्यनिष्ठ में अधिकार–लोलुपता की गंध भी नहीं रहती । अधिकार की पूर्ति और अपूर्ति से ही मानव राग और क्रोध में आबद्ध होता है, जो विनाश का मूल है । सजग मानव सदैव अपनी ओर देखता है, अपनी दशा पर विचार करता है और अपनी आवश्यकता से परिचित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ हो सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है । जो नहीं करना चाहिए उसके न करने पर कर्त्तव्य–पालन सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है । अकर्त्तव्य का जन्म अपनी ही भूल से होता है यह प्राकृतिक दोष नहीं है, पर यह वे ही जान पाते हैं जिन्होंने असफलता की वेदना से कर्त्तव्यनिष्ठ होकर सफलता प्राप्त की है । प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य–पालन सहज तथा स्वाभाविक है, कारण कि वही करना है जो प्राप्त परिस्थिति में संभव हो ।

कर्त्तव्य–विज्ञान को भलीभाँति जान लेने पर कर्त्तव्य–पालन में स्वाभाविकता आ जाती है । इतना ही नहीं, कर्त्तव्य–विज्ञान योग–विज्ञान का पूर्व पक्ष है । अतएव प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ मानव योगवित् होकर समस्त निर्बलताओं का अन्त करने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है । यह मैं भलीभाँति जानता हूँ कि अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को बड़ी ही असुविधाएँ हैं, किन्तु प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर कर्त्तव्यच्युत होना तो भारी भूल है । प्रतिकूलता हमें तपस्वी देखना चाहती है । तप का अर्थ आई हुई कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करना है । अतः मैं अपने प्यारे विद्यार्थियों तथा माननीय अध्यापकों से सविनय निवेदन करता हूँ कि वे अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहते हुए और बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में अथक प्रयत्नशील रहेंगे ।

सद्भावना सहित

.....

(८६)

वृन्दावन

परम आस्तिक साधननिष्ठ प्रियवर, ६–४–१९६५

.....मानसिक अशान्ति से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, कोई लाभ नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है । इस कारण विचारशील प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखते हैं । उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से मिल जाती है । सामर्थ्य और विवेक–विरोधी कार्य के लिए तो क्षमा ही माँगना है और रुचि–विरुद्ध कार्य को यद्यपि कोई पूरी शक्ति लगाकर नहीं कर पाता, फिर भी अपने लक्ष्य को सामने रखकर अपनी रुचि पर अपने को विजयी करना अनिवार्य हो जाता है । रुचि की दासता ने ही मानव को लक्ष्य से विमुख किया है । जब रुचि आवश्यकता में विलीन हो जाती है और उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता, तब चिरशान्ति, स्वाधीनता तथा प्रियता मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है । रुचि पर विजयी होना ही विश्वविजयी होना है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान जाते हैं जिन्होंने मानव–जीवन के महत्त्व को अपनाकर लक्ष्य की प्राप्ति को वर्तमान जीवन की आवश्यकता स्वीकार किया है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है. ..... ।

मानव का मूल्य परिस्थितियों से अधिक होना चाहिए, तभी वह परिस्थिति का सदुपयोग कर सकता है । भूल ही एकमात्र अशान्ति का कारण है । शान्ति सुरक्षित रखने पर ही अपनी भूल का अपने को स्पष्ट दर्शन होता है । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधननिष्ठ बनायें, यही मेरी सद्भावना है । प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला को देखना है, सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है । उनकी मधुर स्मृति ही अपना जीवन है..... । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(६०)

स्वर्गाश्रम

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, १३–४–१९६५

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का होकर रहना है । बस यही साधक का परम पुरुषार्थ है । अपनी वास्तविक आवश्यकता को अनुभव करना ही सच्चा भजन है । आवश्यकता की जागृति होने पर निर्ममता, निष्कामता, असंगता आदि दिव्य गुण स्वतः आ जाते हैं, और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता । आवश्यकता अपने में जाग्रत होती है । उसका प्रभाव तन, मन आदि पर होता है । अपनी भूल से ही अपने में काम की उत्पत्ति होती है । आवश्यकता जाग्रत होने पर काम का नाश होता है और माँग की पूर्ति हो जाती है । यह मंगलमय विधान है। अपने द्वारा अपनी कमी का ज्ञान होने पर ही परम व्याकुलता जाग्रत होती है और प्यारे प्रभु की महिमा स्वीकार करने पर ही व्याकुलता, निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता में विलीन हो जाती है और फिर स्वतः सब कुछ हो जाता है । अपनी दीनता का अनुभव और प्रभु की महिमा की अविचल आस्था स्वीकार करना ही विकास का मूल है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो ।

सद्भावना सहित

.....

(६१)

गीता भवन

ऋषिकेश

मेरे निज–स्वरूप परम आस्तिक प्रियवर, ६–६–१९६५

सादर सप्रेम हरिस्मरण ।

आपने ठीक ही लिखा है कि आस्तिक साधक का, प्रार्थना ही अंतिम पुरुषार्थ है, कारण कि प्रार्थना के अनुरूप ही भावी जीवन का निर्माण होता है । यह सभी विचारशीलों का मत है कि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है, अर्थात् आज जो आवश्यकता

है वही भविष्य का जीवन है । प्रलोभन और भय शान्ति को सुरक्षित नहीं रहने देते । यद्यपि प्रलोभन से कोई लाभ नहीं होता, अपितु प्रमाद ही पोषित होता है, परन्तु दृश्य की सत्यता और सुन्दरता को स्वीकार करने से और पराधीनता को जीवन मानने से मानव अपने को प्रलोभन में आबद्ध कर लेता है । प्रलोभन में आबद्ध होते ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं । भयभीत होते ही मानव प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता । अतः प्रलोभन तथा भय से रहित होने पर ही कर्त्तव्यपरायणता आती है । कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर साधक स्वतः योग का अधिकारी हो जाता है, अर्थात् चित्त शुद्ध तथा शान्त हो जाता है, जिसके होते ही साधक बड़ी सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है । ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है ।

प्रार्थना ही अंतिम और आरम्भिक अचूक उपाय है । पर प्रार्थना और प्रार्थी में भेद न रहे अर्थात् प्रार्थना प्रार्थी का स्वरूप हो जाय । पर यह तभी संभव होगा जब साधक अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करे । आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है । पुनः आपको बहुत–बहुत प्यार ।

सद्भावना सहित

.....

(६२)

बेलगांव

१७–६–१९६५

मेरे निज–स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....श्रीहरि ही एकमात्र भयहारी हैं । उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही शरणागतों का एकमात्र सम्बल है । अपनी निर्बलताओं का परिचय और उनके मिटाने की वेदना ही मानव का पुरुषार्थ है। उनकी महिमा को स्वीकार करना और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना ही निर्भयता का मूल मंत्र है । हम सब उनके हैं और वे हम सबके परम सुहृद् हैं, इसे वे जानते हैं और हमें मानना है । विकल्प–रहित मान्यता स्वतः सजीव हो जाती है । जिसके होते ही

साधक की श्रद्धा और साध्य के ज्ञान में एकता हो जाती है, बस यही सफलता की कुंजी है । यह सब कुछ उन्हीं का है । वे स्वयं भी उसमें मौजूद हैं । फिर भी हम उन्हें भूल जाते हैं । यही साधक की सबसे बड़ी असावधानी है । वे अपनी अहैतुकी कृपा से हम साधकों को अपनी स्मृति प्रदान करें । हमारी यह माँग उत्तरोत्तर सबल तथा स्थायी होती रहे । इतना ही नहीं, हम और हमारी माँग एक हो जाय, माँग से भिन्न अपना अस्तित्व न रह जाय, माँग की पूर्ति वर्तमान की समस्या हो जाय । बस, फिर कुछ भी प्रयास शेष नहीं रहता । माँग के जगाने में ही अपना अधिकार है । पूर्ति तो वे स्वयं करते ही हैं, कारण कि यह उनका सहज स्वभाव है । वे चाहे जैसे राखें, पर प्रत्येक दशा में वे प्यारे लगते रहें । बस, यही अपनी अन्तिम माँग है । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी शरणागतों को अपनायें, यही मेरी सद्भावना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । सद्भावना सहित

.....

(६३)

कलकत्ता

१८–७–१९६५

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण ।

.....साधक के जीवन में लक्ष्य से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है । देह की आवश्यकता अनुभव करने पर देहाभिमान नाश नहीं होता । देह की आवश्यकता वही अनुभव करता है जिसे कामना–पूर्ति का सुख चाहिए । जो शान्ति तथा स्वाधीनता का पुजारी है उसे अपने लिए देह नहीं चाहिए । शान्ति और स्वाधीनता एकमात्र निर्ममता, असंगता से ही प्राप्त होती है । ये सभी बातें निज ज्ञान से साध्य हैं, अभ्यास से नहीं । वह ज्ञान मानव मात्र में मौजूद हैं । अतः उसका आदर करो और देहाभिमान–रहित हो जाओ ।

सद्भावना सहित

.....

(६४)

कलकत्ता
१८–७–१९६५

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

जिओ, जागो, सदा सानन्द रहो ।

.....प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है । उसके सदुपयोग में ही मानव का हित है । प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रहनी चाहिए । यह तभी संभव होगा जब मानव विचारपूर्वक असंग हो जाय, अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक सर्व–समर्थ प्रभु की शरणागति स्वीकार करे । मानव को बल जगत् की सेवा के लिए और ज्ञान अपने लिए तथा श्रद्धा सर्व–समर्थ प्रभु के लिए मिली है । ऐसा स्वीकार कर लेने पर उदारता, असंगता एवं आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाता है.....।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(६५)

वृन्दावन
२–८–१९६५

स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

प्रत्येक परिस्थिति प्रभु के मंगलमय विधान से निर्मित है । उसके सदुपयोग मात्र में ही मानव का अधिकार है । वास्तविक जीवन सभी परिस्थितियों से अतीत है । उसकी माँग सबल तथा स्थायी हो जाने से परिस्थिति में जीवन–बुद्धि नहीं रहती । सभी परिस्थितियाँ साधन–सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, इस कारण सभी परिस्थितियों में वास्तविक जीवन की उपलब्धि हो सकती है । पर यह रहस्य सत्संग से ही स्पष्ट होता है । सत्संग में ही मानव का परम

पुरुषार्थ निहित है । इस कारण सत्संग–योजना के प्रचार तथा प्रसार के लिए विचारशील तथा हृदयशील मानव को अथक प्रयत्नशील रहना चाहिये । सफलता अवश्यम्भावी है । पुनः आपको सप्रेम अभिवादन।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(६६)

वृन्दावन
५–८–१९६५

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार प्रिय,

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

सेवा का अवसर प्रभु–कृपा से ही मिलता है । उसे कभी नहीं खोना चाहिये । सर्व–समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा का आश्रय ही शरणागत का सर्वस्व है । शरणागत के लिए जीवन में निराशा, भय, चिन्ता आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है । प्रत्येक कर्त्तव्य–कर्म के द्वारा उनकी पूजा करना है और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला का दर्शन करना है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर उनकी मधुर स्मृति को ही अपना जीवन बनाना है । प्रभु की स्मृति में ही मानव–जीवन की पूर्णता है । स्मृति बोध, प्रेम और प्राप्ति में समर्थ है । विस्मृति से ही मानव प्रभु से विमुख हुआ है । यह सभी को मान्य है कि प्रभु से देश–काल आदि की दूरी नहीं है । वे सदैव सर्वत्र अपने साथ है । इतना ही नहीं, हम भले ही उनकी ओर न देखें, पर वे सतत् हमें देख रहे हैं । उनकी कृपा–दृष्टि सदैव निरन्तर रहती ही है और वही शरणागत का आश्रय है । वे अपना प्रेम प्रदान करें, यह उत्कट लालसा सदैव रहनी चाहिये ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(६७)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १४–६–१९६५

आयी हुई कठिनाइयों को तुम तप समझ सहर्ष सहन करते रहो। भीतर से निरभिमानता और ऊपर से कार्यकुशलता बनी रहे । आस्तिक प्राणी के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है । आयी हुई प्रतिकूलताओं का आदर करो, डरो मत । प्रभु के सिखाने के अनेक ढंग हैं । वे कभी–कभी अपने निज जनों के प्रति बड़ी ही निठुरता की लीला करते हैं, पर जो उनके सच्चे भक्त हैं वे कभी घबराते नहीं । ऊपर से और भीतर से निरन्तर उनको ही पुकारते हैं । भक्त के जीवन में आलस्य प्रमाद तथा व्यर्थ चिन्तन शेष नहीं रहता । उसका तन सेवा में मन प्रीति–रूपी गंगा में डूबा रहता है । उसे प्रत्येक कार्य में अपने प्रभु का ही हाथ दिखाई देता है । प्रेमास्पद की तलवार से किसी भी प्रेमी को भय नहीं होता, तो फिर उनकी दी हुई कठिनाई से घबराने की क्या बात है ।

सच्चाई होने पर भी सच्चाई का अभिमान न हो । प्रेमी होने पर भी प्रीति का अभिमान न हो । सदैव यही समझना चाहिये कि प्रीति तो प्रभु करते हैं । ज्यों–ज्यों प्रेमी के सभी अभिमान गलते जाते हैं त्यों–त्यों प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी बनते जाते हैं । हमारे और उनके बीच में केवल अभिमान का ही पर्दा है । उसे व्याकुलता की अग्नि में जला दो, बस बेड़ा पार है ।

सभी प्रेमीजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना । पुनः तुमको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(६८)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २३–६–१९६५

सत्संग ही साधक का परम पुरुषार्थ है । असाधन का नाश, साधन की अभिव्यक्ति तथा साधन और जीवन की एकता एकमात्र

सत्संग से ही साध्य है । सत्संग की स्वाधीनता मानव को जन्मजात है । मानव अपनी ही भूल से अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है । पर–चर्चा और पर–चिन्तन से विमुख होने पर मानव अपनी ओर देखने में समर्थ होता है । अपनी ओर देखने से अपनी भूल का बोध होता है । जब साधक अपनी भूल से पीड़ित होने लगता है, तब सर्व–समर्थ की अहैतुकी कृपा स्वतः भूल–रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करती है और फिर साधक सत्संगी होकर साधन–निष्ठ बन कृतकृत्य हो जाता है । यह अनन्त का मंगलमय विधान है । विधान में अविचल आस्था रखनी ही वास्तविक आस्तिकता है । विधान के अधीन रहने में ही सफलता निहित है । विधान में विश्वास न करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है । सफलता से निराश होना विधान का अनादर है । सफलता साधक का जन्मजात अधिकार है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था सर्वतोमुखी विकास का मूल है ।

आप सभी महानुभाव सत्संगी होकर साधन–निष्ठ हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है ।

सद्भावना सहित

.....

(६६)

कानपुर

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार प्रियवर, ३–१०–१९६५

बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

विधि का विधान अमिट है । इसमें किसी का वश नहीं है । यद्यपि प्रत्येक घटना प्राकृतिक न्याय है, परन्तु सज्जनों का वियोग दुःखद ही होता है । दुःख का प्रभाव मानव के विकास की भूमि है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सजग होकर अपनी ओर देखे ।

बड़ों के प्रति श्रद्धा करने से आयु, तेज बढ़ता है । कर्त्तव्य–पालन करने से अपना विशेष हित होता है । इसी कारण मानव का अधिकार केवल कर्त्तव्य–पालन में है, अधिकार में नहीं । इस धर्म–विज्ञान के

अनुरूप जीवन हो जाने पर मानव बड़ी सुगमतापूर्वक राग–रहित होकर योगवित् हो जाता है । कर्त्तव्य–पालन का उत्तर पक्ष योग है, भोग नहीं । इसी कारण कर्त्तव्यनिष्ठ मानव अपने अधिकार का त्याग करते हैं । इतना ही नहीं, अधिकार कर्त्तव्य का दास है । अधिकार–लालसा को रखकर किया हुआ कर्त्तव्य मानव को राग तथा क्रोध में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१००)

हरदोई

६–१०–१९६५

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार.....,

सादर सप्रेम हरिस्मरण ।

यह आपको विदित ही है कि मुझे कार्यक्रम बनाने की स्वाधीनता नहीं है । यहाँ तक कि कभी–कभी पत्र लिखने में भी उतनी स्वाधीनता नहीं रहती, जितनी पसंद करता हूँ । वैसे तो प्रवृत्ति में कोई भी स्वाधीन नहीं है । स्वाधीनता एकमात्र सहज निवृत्ति तथा शरणागति में ही है । प्रवृत्ति मात्र पराधीनता का प्रतीक है । अन्तर केवल इतना है कि जो प्रवृत्ति परिस्थिति के अनुसार दूसरों के संकल्प की पूर्ति में होती है उसमें सुविधा रहती है । प्रमादवश मानव सुविधा को स्वाधीनता मान लेता है । वास्तव में तो प्रवृत्ति में प्राणी पराधीन ही है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान जाते हैं जिन्होंने संकल्प–पूर्ति–काल में भी पराधीनता का स्पष्ट दर्शन किया है । सामर्थ्य और विवेक के अनुसार ही हुई प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है । कर्त्तव्यपरायणता जीवन का एक भाग है, अर्थात् योग–प्राप्ति का पूर्व पक्ष है । वह भी तब, जब कर्त्तव्य–पालन में ही अपना अधिकार स्वीकार करे, उसके बदले में किसी प्रकार की आशा न करे, यहाँ तक कि यह सुनने की भी रुचि न रखे कि आपने ठीक कर्त्तव्यपालन किया । तब तो कर्त्तव्यनिष्ठ होकर मानव संसार के ऋण से मुक्त हो देहातीत जीवन का अधिकारी होकर समता में वास करता है और फिर प्रभु–प्रेम को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है, जो मेरे जानते मानव–जीवन का चरम लक्ष्य है ।

प्रभु–प्रेम की प्राप्ति किसी श्रम–साध्य उपाय से सम्भव नहीं है। सबं ओर से विमुख होंकर एकमात्र शरणागति में ही प्रभु–प्रेम की प्राप्ति निहित है । प्रेम किसी अभ्यास का फल नहीं है, अपितु आत्मीयता से ही जाग्रत होता है । आत्मीयता स्वीकार करने के लिए अन्य सभी ममताओं, कामनाओं, विश्वासों तथा सम्बन्धों का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है । एकमात्र सभी के परम सुहृद प्यारे प्रभु में ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अनिवार्य होता है । अन्य विश्वास, अन्य संबंध के त्याग से ही प्रभु विश्वास सजीव होता है, जो अखण्ड स्मृति में हेतु है । यह मानव मात्र को विदित है कि जो कुछ प्रतीत होता है, अथवा जिसे हम अपना कहकर मानते रहे हैं, वह वास्तव में अपना नहीं है । अपना वही है जो अपने में सदैव मौजूद है । बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अपना है, अपने में है उसमें आस्था–विश्वास नहीं करते और जिस पर अपना अधिकार ही नहीं है उसी का आश्रय लेकर दुःख–निवृत्ति, चिर–शान्ति, स्वाधीनता आदि जो वास्तविक माँग है उसे पूरा करना चाहते हैं । इस भूल ने हमें अपने में अपने को पाने नहीं दिया । मानव प्रीति और वे प्रियतम हैं । प्रीति का प्रियतम से और प्रियतम का प्रीति से अविभाज्य सम्बन्ध है । इस नित्य सम्बन्ध की विस्मृति ने ही हमें पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध किया है, जिसकी निवृत्ति एकमात्र सत्संग से ही संभव है । सत्संग मानव का स्वधर्म है । स्वधर्म–पालन की स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता से जन्मजात प्राप्त है । जो अपना नहीं है उससे सम्बन्ध तोड़ना और जो अपना है उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना ही वास्तव में सत्संग है, ऐसा मेरा अनुभव है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । सद्भावना सहित

.....

(१०१)

.....

६–१०–१९६५

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम आस्तिक प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

जब साधक अपने साध्य को अपने से भिन्न में खोजता है, तब उसे प्रेमास्पद के पाने में देर होती है, किन्तु जब अपने में ही अपने

प्रियतम को स्वीकार करता है, तब उसे वर्तमान में ही अपने प्रेमास्पद का साक्षात्कार होता है और वह सदा के लिए उनकी प्रीति होकर उनको रस प्रदान करता है । जिससे देश–काल की दूरी है ही नहीं वह अपने ही में है । जो अपने ही में है उसे पाने के लिए अपने को समर्पित करना होगा, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा और विश्वास से ही सम्भव है । श्रद्धा–पथ के साधक में किसी अन्य की आस्था की गंध ही नहीं रहती । अन्य विश्वास तथा सम्बन्ध ने ही प्रेमियों को प्रेमास्पद से विमुख किया है । प्रेमास्पद की विस्मृति हुई है, उनसे दूरी नहीं हुई । इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते तथा मानते हैं। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेते ही यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है । हम किसी और के नहीं हैं, कोई और हमारा नहीं है, यह अनुभव हमें आस्था–श्रद्धा–विश्वास प्रदान करता है । यदि कोई और हमारा होता, तो हमारे बिना किसी प्रकार भी नहीं रहता । पर क्या बतायें, जिस शरीर को हम अनेक जन्मों तक अपना कहते रहे वह भी अपना न हो सका, तो फिर जो सदैव हैं वे ही अपने हैं । अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है—यही सच्चा भजन है । उनके नाते सभी को आदर देना है, सभी की यथाशक्ति सेवा करनी है— यही शरणागत की पूजा है । उनकी महिमा ही अपना बल है, उनका आश्रय ही अपना जीवन है । वे सभी साधकों को अपनायें, यही मेरी सद्भावना है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(१०२)

पटना

६–१–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम उदार, साधननिष्ठ,

मै भलीभाँति जानता हूँ कि आपके सामने प्रतिकूल परिस्थिति का पहाड़ है । फिर भी आप धीर हैं, गम्भीर हैं, विचारशील तथा श्रद्धावान् साधक हैं । प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए सदैव सजग रहेंगे और आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक सर्व–समर्थ प्रभु

की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से अभय तथा निश्चिन्त रहेंगे । इतना ही नहीं, आत्मीयता से जाग्रत मधुर स्मृति को ही अपना सर्वस्व स्वीकार करेंगे,कारण कि प्रेमास्पद की मधुर स्मृति में ही रसरूप जीवन है । नीरसता, भय तथा चिन्ता का अत्यन्त अभाव तभी तक हो सकता है, जब हृदय में आत्मीयता से उदित नित–नव प्रियता का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे । यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है । परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य मानव को अपने रचयिता से स्वतः प्राप्त है। किन्तु जब प्रमादवश मानव परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि स्वीकार कर लेता है तब परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होकर भयभीत तथा चिन्तित हो जाता है । इस कारण विचारशील तथा श्रद्धावान् साधक परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि स्वीकार नहीं करते और अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं । पुनः बहुत–बहुत प्यार।

सदभावना सहित

(१०३)

.....

रांची

१४–२–१९६६

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत स्नेह ।

..... जो होना है वही होता है । सामर्थ्य से अधिक कार्य करने पर विस्मृति होने लगती है । यदि कार्य के आरम्भ से पूर्व और अन्त में शान्त रहने का स्वभाव बना लो, अर्थात शान्ति में ही कार्य का आरम्भ हो और शान्ति में ही अन्त हो तो आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है । ऐसा प्राकृतिक विधान है।

..... रुचि और माँग दोनो अपने में हैं । रुचि के सबल होने पर माँग शिथिल हो जाती है और माँग के सबल होने पर रुचि का नाश हो जाता है । और फिर अपने आप कर्त्तव्यपरायणता, उदारता, समता, प्रियता से माँग की जाग्रति में ही मानव के पुरुषार्थ की

परावधि है । रुचि–पूर्ति की पराधीनता को स्वीकार करने से ही माँग की विस्मृति होती है, जो अवनति का मूल है । कर्त्तव्यपरायणता माँग की जागृति और पूर्ति में सहायक हैं, बाधक नहीं । कर्त्तव्य की फलासक्ति साधक को व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करती है । इस कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए निष्काम होना अनिवार्य है। निर्मम होने पर ही निष्काम होने की सामर्थ्य आती है । जिसे किसी प्रकार की पराधीनता सहन नहीं होती वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निष्काम हो जाता है । निष्काम होते ही जिज्ञासा–पूर्ति के लिए विचार का उदय, कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक सामर्थ्य और प्रेम प्राप्ति के लिए भगवत्–स्मृति स्वतः जाग्रत होती है । अतः निष्कामता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है ।

सभी सत्संग–प्रेमियों को सप्रेम हरिस्मरण एवं बहुत–बहुत मधुर स्नेह निवेदन करें । पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार ।

सद्भावना सहित

.....

(१०४)

राँची

स्नेहमयी साधननिष्ठ, २३–२–१९६६

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार । दूसरों से कुछ भी आशा करने पर जो निराशा मिलती है, उसी के फलस्वरुप रोना आता है । कभी भी किसी से न्याय तथा प्रेम की आशा नहीं करनी चाहिये, अपितु स्वयं अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति उदारता तथा प्रियता का व्यवहार करना चाहिये। अपना सम्मान तथा शान्ति सुरक्षित रखने में दूसरों से आशा करना प्रमाद ही है । शान्ति निष्कामता में और सम्मान असंगता में है। ये दोनों ही बातें निज ज्ञान के प्रभाव से सिद्ध होती हैं, अर्थात् जब साधक स्वयं अनुभव करता है कि मुझे स्वाधीन होकर सभी के लिए उपयोगी होना है तभी क्षोभरहित होकर शान्ति पाता है । अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव करो । यह तभी सम्भव होगा जब विश्राम में अविचल आस्था हो जाय । किसी भी श्रम–साध्य उपाय से कोई भी साधक कभी भी अपने में सन्तुष्ट

नहीं हो सकता और उसके बिना हुए नित्य प्राप्त प्रेमास्पद का बोध नहीं होता । अबोध–काल में ही शरीर से तादात्म्य उत्पन्न होता है और फिर प्राणी मान–अपमान की दासता में आबद्ध हो जाता है। आप किसी भी काल में देह नही हैं और न किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार है ।

मिली हुई वस्तु कर्म–सामग्री है, और कुछ नहीं । उसके द्वारा यथाशक्ति दूसरों के अधिकारों की रक्षा हो सकती है, किन्तु मिले हुए शरीर, वस्तु आदि से अपने को कुछ नहीं मिलता । अपनी माँग की पूर्ति तो एकमात्र चिर–विश्राम में ही है । श्रम के द्वारा सम्मानित होने की पराधीनता हमें स्वाधीन नहीं रहने देती । श्रम एकमात्र संग्रह का प्रायश्चित है। जो कुछ मिला हुआ सा प्रतीत होता है वह अपने लिए नहीं है । उसके द्वारा परिवार, समाज,संसार की सेवा करना है। पर जो मौजूद है, नित्य प्राप्त है उसमें प्रियता का उदय होना ही स्वाधीन होना है । प्रियता से प्राप्त को और उदारता से संसार को रस मिलता है । मानव को एकमात्र सभी को रस देना है । अतः प्रियता तथा उदारता को जगाना है, जो एकमात्र विश्राम–पूर्वक अपने में सन्तुष्ट होने से ही संभव है । रोना जिसमें दिखाई देता है वह तुम नहीं हो । जब दृश्य से तादात्म्य नहीं रहता तब अपने आप अपने में प्रियता उदय होती है । अतः दृश्य से विमुख होकर नित्य प्राप्त में संन्तुष्ट हो जाने से ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जायेंगी । यह अनुभव–सिद्ध सत्य है । ॐ आनन्द,आनन्द,आनन्द।

सद्भावना सहित

.....

(१०५)

.....

मेरे निज–स्वरुप परम प्रिय, २०–३–१९६६

प्रत्येक कर्त्तव्य–कर्म के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उन्हीं की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है । तुम सहज भाव से सखियों के साथ प्रिय –चर्चा तथा उनका गुणगान किया करो, जिससे तुम्हारी सभी सखियाँ प्रेमास्पद की महिमा को अपनाकर उनकी प्रीति

की अधिकारिणी हो जायँ । तुम्हारे गुरु ने तुम्हें निर्मल प्यार दिया है । तुम अपने गुरु की सेवा समझकर निज सखियों को प्यारे की महिमा श्रवण कराती रहो । ऐसा करने से तुमपर सतत गुरु–कृपा बरसती रहेगी । गुरु की कृपामात्र से लक्ष्य की प्राप्ति होती है, ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है । जो सेवा तुम्हें मिली है, उसे प्रीति जगाने के भाव से करती रहो । सेवा का अन्त प्रीति में ही होता है । यह अनन्त का मंगलमय विधान है ।

इतना ही नहीं, प्रीति का क्रियात्मक रूप सेवा और सेवा का अन्त प्रीति ही है । प्रीति ने प्रियतम से भिन्न को देखा ही नहीं । प्रीति और प्रियतम के नित्य विहार में ही रसरूप जीवन है । प्रीति का दान वे ही साधक दे पाते हैं जिन्हें कभी भी कुछ नहीं चाहिये, जिनके पास अपना करके कुछ है ही नहीं । और प्रीति का पान एकमात्र सर्व–समर्थ ही कर पाते हैं । तुम प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करो और गुरुदेव की आज्ञानुसार सब प्रकार से अपने प्रेमास्पद की होकर ही रहो । तन, मन, प्राण आदि सभी पर प्यारे की मोहर लग जाय । तुम्हें सब कुछ उन्हीं का दिखाई दे । इतना ही नहीं । यही तुम्हारे गुरुदेव का महावाक्य है । अपने गुरुदेव के इस महावाक्य में अविचल आस्था करो । सफलता अवश्यम्भावी है। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहकर गुरु–आज्ञा का पालन करती हुई सेवा तथा प्रियता में रत रहो। सहजोबाई ने कितनी सुन्दर बात कही है–

मत मन हरि सौं प्रीति कर, हरिजन सौं कर हेत ।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरि ही देत ।।

हरि की प्रीति के लिए गुरु–भक्ति के सिवाय और कोई अचूक उपाय नहीं है । तत्त्व–दृष्टि से तो सर्वदा श्री हरि ही हैं । उनसे दूरी, भेद, भिन्नता की गन्ध भी नहीं है । परन्तु गुरुवाक्य को अपनाकर ही साधक विद्यमान हरि की प्रीति होकर उन्हें रस प्रदान करता है, जो मानव–जीवन का परम लक्ष्य है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(१०६)

.....

२५–३–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम आस्तिक भगवत्परायण प्रियवर,

मानव सेवा संघ साधकों का संघ है । यह मान्यता प्रत्येक आश्रमवासी के जीवन में अविचल भाव से रहनी चाहिए । साधक वही है जो सदैव सजगतापूर्वक अपनी ओर देखता है और आत्मनिरीक्षण द्वारा भूल–रहित होने का अथक् प्रयास करता है, जो अपना समय सार्थक चिन्तन तथा सेवा में ही व्यतीत करता है, जो साध्य की उपलब्धि के लिए सतत आकुल तथा व्याकुल रहता है और जो प्रत्येक क़ार्य के आदि और अन्त में शान्त होकर प्रिय की स्मृति को जगाता है, अर्थात् स्मृति ही जिसका जीवन हो जाती है । कार्य तो वह केवल मिले हुए बल के सदुपयोग के लिए करता है अथवा समाज के ऋण से मुक्त होने के लिए करता है । साध्य की अखण्ड स्मृति में ही जीवन है । स्मृति जगाने के लिए,साधक को सब ओर से विमुख होकर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव करना है, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रखना है, तभी नित्य सम्बन्ध की स्मृति उदित होती है । साधक महानुभाव विचार करें कि उनके जीवन में सजगता का कितना स्थान है । सजग होने में ही जीवन है।

मानव–दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ ने साधक–समाज को यह परामर्श दिया है कि जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है उसकी अखण्ड स्मृति और जिससे माना हुआ सम्बन्ध है उसकी सेवा अनिवार्य है । प्रत्येक प्रवृति सेवा है और प्रवृति के अन्त में अखण्ड स्मृति स्वाभाविक होनी चाहिये । व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है । यदि सेवा कार्य नहीं हैं तो दीवार को मत ताकते रहो । सेवा के अन्त में इन्द्रियों का दरवाजा स्वतः बन्द हो जाना चाहिये । तभी मन निर्विकल्प तथा बुद्धि सम होगी, जिसके होते ही आवश्यक सामर्थ्य, विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति होती है । अब साधक महानुभाव विचार करें कि अनावश्यक

तथा व्यर्थ चेष्टाओं का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है । व्यर्थ चेष्टाओं का नाश होते ही आवश्यक कर्त्तव्य कर्म स्वतः होने लगता है और फिर कार्य के अन्त में नित्ययोग की उपलब्धि हो जाती है । कर्त्तव्य का अन्त योग में और योग, बोध तथा प्रेम में परिणत हो जाता है । इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता योग की भूमि है, जो एकमात्र, जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से ही साध्य है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । सद्भावना सहित

.....

(१०७)

बेलगांव

२६–३–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम उदार साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

शरणागत की दृष्टि में किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह अनेक रूपों में अपने शरण्य को ही पाता है और प्रत्येक घटना में उन्हीं का दर्शन करता है । शरणागत अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता और निरन्तर उनकी महिमा का ही गुणगान करता है । उनकी महिमा को अपनाकर सदा के लिए अभय हो जाता है । शरीर, परिवार, समाज, संसार में स्वरूप से एकता है । इस कारण सभी के प्रति सद्भावना अनिवार्य है । प्रभु के नाते सभी की सेवा करनी है। पर अपना सम्बन्ध एकमात्र शरणागतवत्सल भयहारी प्रभु से ही है, अर्थात् वे ही अपने हैं और यह सब कुछ उन्हीं का है । उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से प्राप्त परिस्थिति का निष्काम भाव से सदुपयोग करना है । यह तभी सम्भव होगा जब आस्था–श्रद्धा–विश्वास–पूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर ली जाय । जब वे ही अपने हैं और सब कुछ उनका है, तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है ? इतना ही नहीं, उनकी आत्मीयता स्वीकार करते ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता अपने आप सिद्ध हो जाती है । समस्त विकारों का स्वतः नाश हो जाता है । उनकी मधुर स्मृति अपने आप होने लगती है । उनकी पूजा से भिन्न और कुछ रह नहीं जाता, अर्थात् पूजा करते है और स्मृति रहती है । यही शरणागत का जीवन है ।

शरणागत सब प्रकार से उन्हीं का हो जाता है । उसका कोई और नहीं रहता और न वह किसी और का रहता है । उनकी महिमा को अपनाकर उनका होकर रहना है । यही महामंत्र है सोई हुई स्मृति को जगाने का ।

स्मृति में ही जीवन है । स्मृति ही प्रीति और प्राप्ति में परिणत होती है । स्मृति शरीर–धर्म नहीं है । अपने में अपने की स्मृति उदय होती है । उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि पर स्वतः होता है । इतना ही नहीं, जब अपने में स्मृति जाग्रत होती है तब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब ओर से विमुख होकर स्मृति में विलीन हो जाते हैं और फिर सर्वत्र सर्वदा सभी में उन्हीं का दर्शन होने लगता है । किन्तु स्मृति जब तक प्रियता में परिणत न हो जाय तब तक सन्तोष नहीं होता । प्रियता शरणागत का जीवन है, कारण कि प्रियता से ही दूरी, भेद, भिन्नता का नाश होता है और फिर वास्तव में माँग की पूर्ति हो जाती है ।

सर्व–समर्थ प्रभु से ही शरणागत की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है और प्यारे प्रभु ही उसके अपने हैं । अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है और अपने में अपनी स्मृति स्वतः होती है। अपनत्व का उपयोग एकमात्र प्रेम की जागृति में ही है । अपनत्व में विकल्प न हो, यही शरणागत का प्रयास है । जो कुछ मिला हुआ–सा प्रतीत होता है वह किसी भी काल में अपना नहीं है कारण कि प्रवृत्ति के अन्त में किसी ने कुछ पाया नहीं । सहज निवृत्ति में जो प्रगति है वही साधक को साध्य से अभिन्न करती हैं । जो करना चाहिए तथा जो कर सकते हैं वही पूजा है । पूजा पूज्य की स्मृति जगाने में समर्थ है, अथवा प्रभु के नाते जो किया जाता है वही पूजा है । आत्मीयता से पूजा और पूजा से प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है । सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो और उन्हीं के नाते प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का सदुपयोग करो । उनकी मधुर स्मृति में ही जीवन है । उसी की माँग निरन्तर बढ़ती रहे, यही मेरी सद्भावना है । माँग की पूर्ति अवश्य होती है । यह प्रभु का मंगलमय विधान है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द, । सद्भावना सहित

.....

(१०८)

बेलगांव

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, २७–३–१९६६

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

.....मानव जन्मजात साधक है । साधननिष्ठ होने की स्वाधीनता उसे उसके रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रदान की है, अर्थात् मानव अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है । लक्ष्य में निराशा होना भारी भूल है । उसका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है । सत्संग मानव का स्वधर्म है, कारण कि सत्संग का सम्पादन अपने द्वारा संभव है । उसके लिए किसी परिस्थिति–विशेष की अपेक्षा नहीं है । विचारशील साधक निज विवेक के प्रकाश में निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर सत्संगी हो जाता है और हृदयशील साधक आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक शरणागत होकर सत्संगी हो जाता है । भक्तों की वाणी में अविचल आस्था करने पर प्रभु–विश्वास की उपलब्धि होती है । सभी भक्तों ने प्रभु की महिमा को स्वीकार किया है । अतः भक्तों की वाणी में आस्था करने से प्रभु–विश्वास का मानव अधिकारी हो जाता है । प्रभु–विश्वास का उपयोग प्रभु–प्रेम की प्राप्ति में ही होना चाहिए, कारण कि प्रेम की प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है । विश्वास के द्वारा विश्वासी प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करता है और आत्मीयता से अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है । सर्व–समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा ने ही मानव का निर्माण किया है । इस कारण मानव प्रभु को अत्यन्त प्रिय है । यदि मानव प्रभु की इस महिमा को अपना ले तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक शरणागति सजीव हो जाती है । साधक मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करते, अपितु सर्व–समर्थ प्रभु से भिन्न किसी अन्य में श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता नहीं करते, केवल प्रभु को ही अपना मानते हैं और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहते हैं और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भावना रखते हैं । इतना ही नहीं, किसी अन्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते । उनकी दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न और कोई है ही नहीं । शरणागत ने सभी में अपने

प्रभु को ही देखा है । इस कारण शरणागत प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। अपने सभी संकल्प सर्व–समर्थ प्रभु के समर्पण कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१०६)

गीता भवन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय, ६–४–१९६६

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

कर्त्तव्य–विज्ञान सर्वतोमुखी विकास का मूल है । पर यह वास्तविकता वे ही मानव अनुभव करते हैं जिन्होंने कर्त्तव्यनिष्ठ होकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा की है । कर्त्तव्यपरायणता एकता तथा विश्वशान्ति का अचूक उपाय हैं। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग ही एकमात्र कर्त्तव्य का स्वरूप है । कर्त्तव्यनिष्ठ होने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, कारण कि जो कर सकते हैं वही करना है । जो नहीं करना चाहिये उसके न करने पर जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है । कर्त्तव्यपालन में अस्वाभाविकता की गन्ध भी नहीं है । पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब अकर्तव्य का सर्वांश में अन्त कर दिया जाय । अकर्तव्य के साथ साथ किया हुआ कर्त्तव्य कर्ता में द्वन्द्व उत्पन्न करता है । प्रत्येक कर्ता में कर्त्तव्य का ज्ञान और उसकी सामर्थ्य विद्यमान है, कारण कि कर्त्तव्य कर्ता का ही चित्र है । प्राकृतिक नियमानुसार अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान मानव मात्र में स्वभाव से मौजूद है । समस्त बुराइयों का मूल अपनी ही भूल है । अपनी भूल का अनुभव अपने को बडी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है । परन्तु अपनी भूल जानने के लिए कार्य के आरम्भ से पूर्व शान्त होना अनिवार्य है ।

शान्ति सामर्थ्य की जननी है, अर्थात् शान्ति के सम्पादन से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती है । यह अनन्त का मंगलमय विधान है । इस विधान में अविचल आस्था रखना मानवमात्र

के लिए अत्यन्त आवश्यक है । शान्ति का सम्पादन करने के लिए सामर्थ्य तथा विवेकविरोधी कार्यों का त्याग परम आवश्यक है । जब मानव उन सभी कार्यों का त्याग कर देता है जो नहीं करना चाहिए तब अपने आप अपने कर्त्तव्य का यथेष्ट बोध हो जाता है । अधिकार स्वतः प्राप्त होता है । किन्तु सजग मानव प्राप्त अधिकार कर्त्तव्य का ही दास है अर्थात् कर्त्तव्य–पालन करने पर अधिकार का भोग नहीं करते, अपितु कर्त्तव्य–पालन में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

जब मानव किसी–न–किसी नाते सभी को अपना मान लेता है तब उसमें कर्त्तव्य की भावना स्वतः जाग्रत होती है । यह सभी को विदित है कि शरीर और विश्व का अविभाज्य सम्बन्ध है । यदि शरीर को अपना मानते हो तो सभी को अपना मानना अनिवार्य है । अपना मानने का अर्थ है कि अपने द्वारा किसी की क्षति न हो । सेवा चाहे जिसकी करें किन्तु हानि किसी की भी न करें । तभी मानव विश्वशान्ति में सहयोग दे सकता है । किसी को क्षति पहुँचाकर किसी की सेवा करना भारी भूल है । इतना ही नहीं, जो विकास किसी के विनाश से होता है वह परिणाम में अहितकर ही सिद्व होता है । इतना ही नहीं, दूसरों के साथ जो कुछ किया जाता है वह कालान्तर में कई गुना अधिक अपने प्रति होने लगता है, यह प्राकृतिक विधान है । इस दृष्टि से अकर्त्तव्य का मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है । सर्वांश में अकर्त्तव्य का अन्त किये बिना जीवन कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना जीवन उपयोगी नहीं होता । इस कारण कर्त्तव्य–पालन के लिए सर्वदा अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए । परस्पर संघर्ष का अन्त करने के लिए दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना और अपने को अधिकार–लोलुपता से मुक्त रखना अत्यन्त आवश्यक है । इस महामंत्र को अपनाकर मानव राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है । राग मानव को पराधीनता में आबद्ध करता है । पराधीन प्राणी में उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती । उदारता के बिना विश्वशान्ति और समता के बिना सर्व दुःखों की निवृति और प्रियता के बिना रस की अभिव्यक्ति ही नहीं होती । शान्ति, दुख–निवृति तथा रस–रूप जीवन की माँग मानव–मात्र की अपनी माँग है इस दृष्टि से राग–रहित होना

मानव–मात्र के लिए अनिवार्य है । विद्यमान राग की निवृति एकमात्र कर्त्तव्यपालन से ही होती है । इस कारण निकटवर्ती प्रियजनों तथा समाज, देश, विश्व आदि के अधिकारों की रक्षा करना परम अनिवार्य है । मानव एकमात्र दूसरों के अधिकारों का पुंज है, और कुछ नहीं। इस कारण उसे सभी के अधिकारों की रक्षा करनी है । अपने अधिकार के त्याग से क्रोध का नाश हो जाता है । जिसके होते ही अपने कर्त्तव्य की, निज स्वरुप की, जगत् के प्रकाशक की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है । कर्त्तव्य की स्मृति में समता और सभी के प्रकाशक तथा आश्रय की स्मृति में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है । उदारता,समता और प्रियता की अभिव्यक्ति में ही मानव–जीवनकी पूर्णता है। इस कारण सभी के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना अनिवार्य है । सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव जाति को कर्त्तव्यनिष्ठ बनायें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(११०)

स्वर्गाश्रम

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स, १६–४–१९६६

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत स्नेह ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । यह जानकर कि तुम्हारा सर्वहितकारी पावन शरीर लो ब्लड प्रेशर और डाइबिटीज से पीड़ित है, हृदय करुणित हो उठा । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें प्रतिकूलताओं के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम साधननिष्ठ होकर मानव–जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है । .....आँख के आपरेशन के बाद धूप, धुँआ, धूल और अधिक बोलने से अपने को बचाएँ । ऐसा करने से आँख को बहुत लाभ होगा । लो ब्लड प्रेशर में खुराक ठीक खानी चाहिए । किन्तु डाइबिटीज होने से तुम खा नहीं पाते । मेरे जानते कुछ दिन जामुन की गुठली और गुड़मार बूटी,

इन दोनों को सम भाग लेकर दूध के साथ खा लिया करो । मात्रा के सम्बन्ध में किसी वैद्य से परामर्श ले लेना । छैना, छाछ आदि का आवश्यकतानुसार सेवन करना चाहिए । वेजीटेबिल भी प्रतिदिन खुराक में खूब होनी चाहिए । भोजन सुपच हो । पाचन–क्रिया ठीक होने से डाइबिटीज और लो ब्लड प्रेशर दोनों को लाभ होगा । ऐसा मेरा विश्वास है । मस्तिष्क में शान्ति रहने से भी अधिक लाभ होगा। शारीरिक श्रम सामर्थ्य के अनुरूप ही होना चाहिए । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१११)

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २०–४–१९६६

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है । विचारशील अर्थ को अपनाकर सत्संगी होकर जीवन को सार्थक कर लेते हैं । इस कारण सर्व–प्रथम मानव–मात्र को सत् का संग करना अनिवार्य है । सत्संग से ही अविनाशी, स्वाधीन, रसमय, चिन्मय जीवन की उपलब्धि होती है । इसी वास्तविक माँग की पूर्ति के लिए सर्व–समर्थ प्रभु ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव–जीवन प्रदान किया है । यह सुनहरा अवसर व्यर्थ न जाने पावे, इसके लिए सतत् प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है। सफलता अवश्य होगी, कारण कि इसी उददेश्य की पूर्ति के लिए सर्वाधार परम सुहृद् प्यारे प्रभु ने मानव–जीवन दिया है । प्रभु के इस संकल्प में हमें अपने सभी संकल्प विलीन कर देना है । वे ही एकमात्र अपने हैं, अपने में हैं, सदैव हैं । सब प्रकार से उन्हीं का हो जाना है और प्रत्येक कर्म के द्वारा उन्हीं की पूजा करनी है । उन्हीं की मधुर स्मृति अपना जीवन है । स्मृति ही एकमात्र योग, बोध और प्रेम की जननी है । अपने की अपने में स्मृति स्वयं जाग्रत होती है । इस वास्तविकता को अपनाना अत्यंत आवश्यक है । जिसका सम्पादन 'स्व' के द्वारा होता है, वही सत्संग है । उसकी स्वाधीनता परम प्रेमास्पद ने मानवमात्र को दी है । मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग

ही मानव का परम पुरुषार्थ है । अतः सत्संगी होकर सभी को सफलता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाना चाहिए । यही मेरी सद्भावना है ।

तुम्हारा

.....

(११२)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय..... ८–५–१९६६

साधक का आत्मीय सम्बन्ध सर्वाधार सर्वान्तर्यामी सर्व–समर्थ प्यारे प्रभु से ही है और माना हुआ सम्बन्ध जगत् से । जिनसे आत्मीय सम्बन्ध है उनमें प्रियता और जिससे माना हुआ सम्बन्ध है उसकी सेवा साधक का सहज स्वभाव है । जब साधक ने शरीर से ही सम्बन्ध तोड़ दिया तो फिर व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखने की तो बात ही नहीं है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो । अनुकूलता तथा प्रतिकूलता एवं भले और बुरे का भास केवल शरीर में अहं–बुद्धि स्वीकार करने पर ही होता है । वास्तव में सत्ता–रूप से तो एकमात्र सर्व–समर्थ हरि ही हैं और प्रतीति–मात्र जगत् है । जगत् से मिली वस्तु के द्वारा जगत् की सेवा सहज भाव से करना है और अपने में अपने प्रेमास्पद की अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता स्वतः होनी चाहिये, क्योंकि आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करते ही अपने आप मधुर स्मृति जाग्रत होती है ।

साधक को केवल सत्संग करना है, साधन स्वतः होता है । तभी साधन और जीवन में भेद नहीं रहता, अर्थात् जीवन साधन हो जाता है । मानव का अविभाज्य सम्बन्ध जगत्पति तथा जगत् से है । इस कारण जगत्पति में प्रियता और जगत् के प्रति उदारता स्वाभाविक रहनी चाहिये, जो एकमात्र समता से ही साध्य है । समता की उपलब्धि निज ज्ञान के प्रभाव से निर्मम, निष्काम तथा असंग होने पर ही होती है, जो वास्तव में सत्संग है । आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक भक्तों की वाणी के आधार पर सर्व–समर्थ प्रभु से आत्मीयता स्वीकार करना भी सत्संग है । प्यारे प्रभु से भिन्न कोई और अपना नहीं है। उन्हीं से जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता है । उन्हीं

के नाते मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा उदारतापूर्वक प्रियजनों की क्रियात्मक और समस्त जगत् की भावात्मक सेवा करनी है । अपने को जगत् से कुछ नहीं चाहिये । जगत्पति का प्रेम तथा जगत् की सेवा साधक का सहज स्वभाव है । इस वास्तविकता में अविचल श्रद्धा–विश्वास करो और सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु की होकर रहो । शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि पर उन्हीं की मोहर लगा दो । उत्तरोत्तर–प्रियता बढ़ती रहे । प्रियता वास्तव में क्षति, पूर्ति, निवृत्ति से रहित नित–नव है । पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब अपने में अपना करके कुछ न रह जाय । जगदाधार तथा उनकी लीला का ही दर्शन होता रहे, अर्थात् लीला और लीलामय से भिन्न कुछ है ही नहीं । लीला देखती रहो, प्रियता बढ़ती रहे । बस, यही जीवन की साथर्कता है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(११३)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत प्रियवर, २०–५–१९६६

सप्रेम सादर हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

पत्र द्वारा समाचार मिला । यदि कोई साधक सेवा करना चाहता है तो उसमें दो मत नहीं हैं । सेवा कहीं की जाय, किसी भी प्रकार की जाय, किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि क्रियात्मक सेवा उसी अंश में की जा सकती है जिस अंश में साधक सुखी हो । जब आप स्वयं अपनी परिस्थिति के अनुसार विचार कीजिये कि किस अंश में क्या सेवा कर सकते हैं । दुष्काल की विपत्ति प्रकृति के क्षोभ से आती है। उसका निवारण बाह्य उपचार से सर्वांश से सिद्ध नहीं होता । इतना ही नहीं, कुछ लोग तो आत्मख्याति तथा लोकरंजन से प्रेरित होकर सेवा की धूम मचाते तथा गीत गाते हैं । कुछ लोग सही अर्थ में परपीड़ा से पीड़ित होकर सेवा करते हैं । इतना ही नहीं, साधक को देखा–देखी नहीं करनी चाहिये । जिससे अपना हृदय व्यथित हो उस सेवा को अवश्य करना चाहिये । वास्तव में तो सेवा समर्थ का स्वभाव तथा

सेवक का जीवन है । अकाल–पीड़ित भाई–बहिनों की व्यथा से व्यथित होकर प्रत्येक मानव को सप्ताह में कम से कम एक दिन का उपवास अवश्य करना चाहिये और जो अर्थ से सम्पन्न हैं उन्हें अर्थ द्वारा सेवा करनी चाहिये । जनता–जनार्दन से मिले हुए अर्थ के उपयोग के लिए स्वयं जाकर तन–मन से सेवा करनी चाहिये ।

यदि मानव–समाज व्यथित हृदय से करुणासागर को पुकारे तो प्रकृति का क्षोभ मिट सकता है और दुष्काल सुकाल में बदल सकता है । पर इस ओर तो आज दृष्टि ही नहीं जाती । जग की सहायता से जग की समस्याओं का सर्वांश में समाधान नहीं होता । करुणासागर जगदाधार को पुकारो और उनके द्वारा दिये हुए बल से क्रियात्मक सेवा करो । इस सम्बन्ध में मेरा निश्चित मत है ।

अब विचार यह करना है कि प्रकृति क्षोभित क्यों होती है । इस सम्बन्ध में मेरा विचार है कि जब जन–समाज न करने वाली बातें करता रहता है, तब दैवी आपत्तियाँ आती हैं । उसकी शान्ति के लिए प्रार्थना और प्रायश्चित्त दोनों ही होने चाहिए । तभी व्यापक संकट की समस्या हल हो सकती हैं । प्रायश्चित तो यह है कि संग्रहीत वस्तु दुखियों के काम आ जाय और व्यथित हृदय से परम कृपालु को पुकारा जाय ।

सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों को त्याग का बल और सुखियों में उदारता प्रदान करे, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा

.....

(११४)

बरेली

२–६–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

.....शरणागत साधक अपने में अपना करके कुछ भी नहीं पाता, अपितु सदैव सर्वत्र अपने शरण्य को ही पाता है, उन्हीं की प्रियता होकर उन्हें रस प्रदान करता है । वे अपने में हैं, अपने हैं और अपने

होने से स्वभाव से ही अत्यन्त प्यारे हैं । जिसे कुछ नहीं चाहिए, जिसका कुछ नहीं है वही उन्हें प्रेम देता है । जो सब प्रकार से पूर्ण हैं वे ही इस प्रेम का पान कर सकते हैं । जो कुछ भी चाहता है वह प्रेम नहीं पाता । जो अपूर्ण है वह प्रेम का पान नहीं कर सकता । शरणागत को कुछ नहीं चाहिए । अतः वही प्रेम का दान दे सकता है । शरण्य सब प्रकार से पूर्ण हैं, इस कारण वही प्रेम का पान कर सकते हैं । शरणागत और शरण्य में जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध हैं । शरण्य की श्रद्धा ही शरणागत को सब ओर से विमुख कर शरण्य के प्रेम का पात्र बनाती हैं । शरण्य की महिमा से रोम–रोम छक जाय, यही मेरी सद्भावना है । शरण्य सदैव शरणागत को देख रहे हैं, वे कभी उसे अपनी आँख से ओझल नहीं करते । इतना ही नहीं, शरणागत में शरण्य की ही सत्ता है । शरण्य और शरणागत की सदा ही जय हो, जय हो, जय हो । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(११५)

बरेली

३–६–१९६६

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम आस्तिक प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । यह मैं भलीभाँति जानता हूँ कि तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। इस वास्तविकता का तुम्हें भी बोध है । अतः शरीर के अस्वस्थ रहने से तुम्हारा कुछ बनता–बिगड़ता नहीं । परन्तु तुमने मानव–समाज की सेवार्थ मेरी व्यथा में हाथ बँटाया है, इस कारण यदि तुम्हारा शरीर स्वस्थ रहता है तो प्रसन्नता होती है । जब अस्वस्थता सुनाई देती है तब हृदय करुणित होना स्वाभाविक ही है । मोह–रहित करुणा साधक का सहज स्वभाव है । करुणा से हृदय द्रवीभूत होता है और जिसके प्रति करुणा उदित होती है उसे सान्त्वना मिलती है । ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है । हृदय में करुणा तथा प्रसन्नता उदित होने से चित्त अपने आप शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जो विकास का मूल है ।

.....सम्मान की वासना रखते हुए क्या साधक का विकास हो सकता है ? सुविधा और सम्मानपूर्वक की हुई सेवा सेवा के रूप में भोग हो जाती है, ऐसा मेरा अनुभव है । .....जिस साधक के मन में सम्मान की रुचि नहीं होती उसे सम्मान न मिलने पर क्षोभ नहीं होता । जब तक क्षोभ नहीं होता तब तक क्रोध नहीं आता और क्रोध के बिना विस्मृति नहीं होती, छिपाव नहीं होता । ..... निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण निवेदन करना ।

सद्भावना सहित तुम्हारा

.....

(११६)

लखनऊ

मेरे निज–स्वरूप परम उदार प्रियवर, १८–६–१९६६

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

.....आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक शरणागत होने पर अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता । परन्तु विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हुए बिना शरणागति सजीव नहीं होती । जो अपने में अपना कुछ भी पाता है वह साधक सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का हो नहीं पाता और उनका हुए बिना चिन्ता, भय, शोक आदि का अभाव नहीं होता । इतना ही नहीं, प्यारे प्रभु की मधुर स्मृति भी जाग्रत नहीं होती, जिसके बिना हुए हृदय प्रेम से नहीं भरता । प्रेम–शून्य जीवन कभी किसी के लिए उपयोगी नहीं होता । इस दृष्टि से हमें सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर रहना है और अपने में अपना कुछ नहीं रखना है । ऐसा करने से सफलता अवश्यम्भावी है । जो सदैव है, सर्वत्र हैं, समर्थ हैं, सभी के हैं वे ही अपने हैं और अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से अपने से दूर नहीं हैं । जिनसे दूरी नहीं हैं, भेद और भिन्नता भी उनसे नहीं है । पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हो जाय और आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक शरणागत हो जाय..... । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(११७)

मुजफ्फरनगर
२०–६–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

.....मेरे जानते प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है । परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि भूल है । प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग में ही साधक का अधिकार है । सर्व–समर्थ प्रभु शरणागत साधक को प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य बिना ही माँगे देते रहते हैं । पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि स्वीकार नहीं करता । निर्मम, निष्काम होकर प्रभु के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने पर मानसिक शान्ति सुरक्षित रहती है । जो सर्व–समर्थ हैं, सभी के अपने हैं, जिनसे देश–काल आदि की दूरी नहीं हैं, उन्हीं में आत्मीयता स्वीकार करना है । अपने में अपने की स्मृति तथा प्रियता स्वतः अभिव्यक्त होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है । विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है । स्मृति से ही विस्मृति नाश होती है । अपनत्व से ही स्मृति जाग्रत होती है । सर्व–समर्थ प्रभु से भिन्न और कोई अपना है ही नहीं । इस वास्वविकता को अपनाना अनिवार्य है ।.....सब प्रकार से प्रभु के होकर रहे, इसी सद्भावना के साथ ।

तुम्हारा

.....

(११८)

धनबाद
२३–१२–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

.....प्रभु विश्वास साधन और प्रभु–प्राप्ति साध्य है । प्रभु विश्वास से भिन्न और कोई उपाय प्रभु–प्राप्ति का नहीं है, कारण कि विश्वास से ही सम्बन्ध सुदृढ़ होता है और नित्य सम्बन्ध से ही स्मृति

जाग्रत होती है, जो विस्मृति को खाकर साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है । अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग अनिवार्य है, जो एकमात्र विचार से ही साध्य है । आत्मीयता श्रद्धा–विश्वास से सजीव होती है और असंगता विचार से सिद्ध होती है । असंगता से जीवन–मुक्ति, आत्मीयता से अनन्य भक्ति की उपलब्धि होती है । मुक्ति में भक्ति और भक्ति में मुक्ति ओत–प्रोत है, कारण कि ज्ञान और प्रेम में विभाजन नहीं होता । पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक साधन और साध्य की वास्तविकता का भलीभाँति अनुभव कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय । साधक के जीवन में असफलता और निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि प्रत्येक साधक के प्रति सर्व–समर्थ प्रभु की कृपालुता, सत्पुरुषों की सद्भावना एवं जगत् की उदारता सदैव रहती है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(११६)

माघ मेला कैम्प
प्रयाग

स्नेहमयी साधननिष्ठ माँ, ३–२–१९६७

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....विधि का विधान अमिट है । इसमें किसी का वश नहीं चलता । यद्यपि जन्म से ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है, पर उस पर सर्व–साधारण की दृष्टि नहीं रहती । उसका परिणाम यह होता है कि अकस्मात् वियोग हो जाने पर हृदय पीड़ित हो जाता है । यदि मानव विचारपूर्वक संयोग–काल में वियोग का अनुभव कर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाय, तो वह सदा के लिए मृत्यु के भय से रहित होकर अमरत्व से अभिन्न हो जाता है.....।

मृतक प्राणी की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि उनसे विचारपूर्वक सम्बन्ध–विच्छेद कर लिया जाय और जब–जब उनकी स्मृति आवे तब–तब प्रार्थना की जाय और उनके निमित्त यथा–शक्ति अपने विश्वास के अनुसार पुण्य कर्म आदि भी किया जा सकता है, किन्तु

उनको अपना मानना, उनका चिन्तन करना अपने आप उनके लिए अहितकर ही सिद्ध होता है । पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने मानव–जीवन की वास्तविकता का अनुभव किया है । प्रत्येक संयोग वियोग की अग्नि में जल ही रहा है । अतः सजग मानव को अविनाशी जीवन से अविनाशी योग के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए, सफलता अवश्यम्भावी है, कारण कि इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए मानव–जीवन मिला है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्‌भावना सहित

.....

(१२०)

.....

२३–२–१९६७

मेरे निज–स्वरूप भगवत्परायण प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

प्रभु–विश्वास प्रभु–प्राप्ति का अचूक उपाय है । जिन्होंने उसे अपनाया, वे सभी कृतकृत्य हो गये । प्रभु–विश्वास अपना लेने पर अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध सदा के लिए स्वतः नष्ट हो जाता है, फिर साधक जगत् के प्रभाव से रहित होकर सतत विश्वरूप में सहज भाव से उन्हीं की लीला का दर्शन करता है । हृदय में लीलामय के प्रेम की भूख स्वभाव से उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है । इतना ही नहीं, प्रीति से भिन्न साधक का कुछ भी अस्तित्व शेष नहीं रहता । तभी तो गौरीशंकर, सीताराम, राधाकृष्ण का नित्य विहार सजीव होता है, जो मानव–मात्र की अपनी माँग है । दायित्व पूरा करने पर माँग पूरी होती है । यह मानव–दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ की अमर वाणी है ।

मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव केवल इस उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है कि मानव–मात्र उस जीवन को पा सकता है जो किसी भी महामानव को मिला है । इस वास्तविकता में आस्था हो जाने पर साधक के जीवन में नित–नव उत्साह, तत्परता, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता स्वतः जाग्रत होती है । वे धन्य हैं, जिनके जीवन

में प्रभु–विश्वास प्रकट हुआ । उससे भी अधिक वे धन्य हैं, जिन्होंने प्रभु–विश्वास से अहम् को सदा के लिए गला दिया । सभी साधक स्वाधीनतापूर्वक अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है ।

सभी साधकों को साधन–तत्त्व से अभिन्न होना है । यह तभी सम्भव होगा, जब साधक केवल सत्संग को ही अपना परम पुरुषार्थ स्वीकार करें । साधन को ऊपर से न भरा जाय, साधक में ही उसकी अभिव्यक्ति हो । रुचि–भेद से भिन्न–भिन्न प्रकार की साधनाओं का प्रादुर्भाव होगा, किन्तु साधक महानुभाव व्यक्तिगत साधना को सामूहिक साधना बनाने का प्रयास न करें, न उसका प्रदर्शन करें, नहीं तो मानव सेवा संघ के उस मूल तथ्य की हत्या हो जायगी कि व्यक्तिगत साधनाओं के द्वारा सभी साधक सर्वांश में असाधनों से रहित होकर साधन–तत्त्व से अभिन्न होते हैं, जो साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है । सद्भावना सहित,

तुम्हारा

.....

(१२१)

पटना

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १६–४–१९६७

बहुत–बहुत प्यार ।

आप चिन्ता न करें । मेरे विश्वास के अनुसार रोग राग का परिणाम है । राग का अन्त करने के लिए ही रोग उत्पन्न हुआ है। राग का अन्त कर रोग स्वतः नाश हो जायेगा, और फिर बुलाने पर भी न आयेगा । निस्संदेह इस समय तुम्हारे सामने बड़ी ही प्रतिकूल परिस्थिति है । उससे भयभीत नहीं होना है । अपितु उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सदुपयोग करना है । आलस्य, अकर्मण्यता एवं सुख के प्रलोभन का अन्त करने के लिए प्रतिकूलता आती है । अतः यथाशक्ति प्रयत्नशील बने रहो । प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करो । उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक का परम पुरुषार्थ है । अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो । बुराई का उत्तर भलाई से देने का स्वभाव

बना लो । यही उपाय है अपने मन को शुद्ध करने का । मन के शुद्ध होते ही परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है । सभी को सप्रेम यथोचित ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(१२२)

गीता आश्रम
स्वर्गाश्रम
देहरादून

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री, २७–४–१९६७

तुम्हारा पत्र मिला । प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । उसके सदुपयोग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है । आज भारतीय महिलाओं के प्रति यद्यपि बड़ा ही अन्याय होता है, परन्तु मानव होने के नाते अन्याय का उत्तर न्याय तथा प्रेम से देना है । न्याय अपने को निर्दोष बनाता है और प्रेम विश्व और विश्वनाथ से एकता प्रदान करता है, अर्थात् प्रेम से जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाता है और न्याय से अपने लिए ।

न्याय का अर्थ है निर्दोषता को सुरक्षित रखना । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । मन प्रेमास्पद में, जो सदैव अपने में ही मौजूद है, लगा रहे और तन से निकटवर्ती प्रियजनों की सेवा करती रहो । जहाँ प्यारे प्रभु राखें वहीं रहो । प्रत्येक कर्म के द्वारा उनकी पूजा करो और जो कुछ हो रहा है उसमें उन्हीं की लीला देखो । प्रभु की मधुर स्मृति ही में जीवन है । अखण्ड स्मृति एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है, इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो, सफलता अवश्यम्भावी है । निकटवर्ती प्रियजनों को हरिस्मरण निवेदन करना। मेरी सद्भावना सदैव आप लोगों के साथ है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१२३)

उल्हासनगर
३–६–१९६७

भगवत्परायण भक्तिमती स्नेहमयी प्रिय पुत्री,

सप्रेम हरिस्मरण ।

शरीर प्राकृतिक विधानानुसार चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, इसके लिए अधिक सोचने–विचारने की बात नहीं हैं । देखना केवल यह है कि साधक की अपनी वास्तविक माँग क्या है । माँग की जागृति होने से ही काम की निवृत्ति होती है । काम का नाश होते ही देहाभिमान गल जाता है, अर्थात् शरीर में अहं–बुद्धि नहीं रहती और फिर अपने आप निर्विकारता, चिरशान्ति एवं स्वाधीनता की प्राप्ति होती है । स्वाधीन होते ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होती है, अर्थात् दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती । अथवा यों कहो कि योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है और फिर शान्ति, मुक्ति और भक्ति जीवन हो जाती है, साधक स्वयं अपने साध्य से अभिन्न हो जाता है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीयता स्वीकार की है और निजज्ञान के प्रकाश में यह अनुभव किया है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए । जो वास्तविकता ज्ञान से सिद्ध है उसे स्वीकार करना वास्तव में सत्संग है । इस दृष्टि से निर्मम तथा निष्काम होना सत्संग है । निर्ममता तथा निष्कामता से निर्विकारता और शान्ति स्वतः प्राप्त होती है, किन्तु प्रेमीजन निर्विकारता तथा शान्ति में रमण नहीं करते । उन्हें तो एकमात्र प्रेम ही की भूख रहती है । प्रेम की भूख ज्यों–ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों स्वतः सभी दुर्बलताओं का नाश होता जाता है । इस कारण प्रत्येक दशा में उत्तरोत्तर प्रेम की भूख बढ़ती रहनी चाहिए। प्रेम की माँग में ही प्रेम की प्राप्ति निहित है । उसके लिए और कोई प्रयास नहीं करना पड़ता । यद्यपि प्रेम सभी को स्वभाव से अच्छा लगता है, परन्तु भोग और मोक्ष का प्रलोभन प्रेम की भूख को सबल तथा स्थायी नहीं होने देता । इस कारण विचारशीलों ने भोग और मोक्ष की कामना को जीवन में से निकाल दिया है और केवल प्रेम ही को अपना लक्ष्य मान लिया है । और यह भलीभाँति जान लो कि

माँग अपने में ही जाग्रत होती है । माँग की जागृति कामनाओं को खा लेती है । कामनाओं का अन्त होते ही स्वतः माँग पूरी हो जाती है, यह अनुभव–सिद्ध सत्य है ।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । साधक के जीवन में हार मानने के लिए कोई स्थान नहीं है । तुम्हें अर्थ द्वारा सेवा करने की बात नहीं सोचनी चाहिए । तुम्हारा साधननिष्ठ जीवन ही जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होगा । अर्थ द्वारा सेवा तो सर्व–साधारण कर सकते हैं । तुम जैसे वीर को तो साधनपरायणता से ही सेवा करना है । सर्व प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु की होकर रहो । उनकी मधुर स्मृति में ही जीवन है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१२४)

खार (बम्बई)
१०–६–१९६७

मेरे निज–स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण ।

वास्तव में तो संयोग–वियोग विधान के अधीन हैं । इसमें किसी का कुछ वश नहीं चलता । आवश्यक सामर्थ्य के सम्पादन के लिए प्राकृतिक विधान के अनुसार शान्त रहना अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि शान्ति सामर्थ्य की जननी है । वर्तमान कर्त्तव्य कर्म तो करना ही पड़ता है और विवेक तथा सामर्थ्यविरोधी कार्यों का भी त्याग करना होता है । कर्त्तव्य कर्म फलासक्ति तथा अभिमान–रहित होना चाहिए । तभी कार्य के अन्त में शान्ति सुरक्षित रह सकती है । अपने आप होने वाले व्यर्थ चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न किया जाय और न उसे बलपूर्वक किये हुए चिन्तन से दबाया जाय, अपितु अपनी वास्तविक आवश्यकता को सबल बनाया जाय । आवश्यकता की जागृति काम की निवृत्ति में हेतु है । काम का सर्वांश में नाश हो जाना ही राम की प्राप्ति का अचूक उपाय है । काम का नाश किसी बलपूर्वक प्रयोग से नहीं होता, केवल वास्तविक आवश्यकता की जागृति से ही होता है । काम का बीज और राम की माँग तत्त्व रूप से दोनों ही अपने

में मौजूद हैं । माँग सबल होने से काम नाश होता है और काम नाश होने से माँग पूरी होती है । साध्य और साधक के बीच केवल काम का ही परदा है । काम के मिटते ही राम से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है और भोग, मोह तथा आसक्ति की निवृत्ति हो जाती है । वास्तविक सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, कारण कि आवश्यकता ही आवश्यकता–पूर्ति का साधन है, किन्तु सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं हुई और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं । कामना–पूर्ति–अपूर्ति का द्वन्द्व एकमात्र निर्मम, निष्काम तथा असंग होने से ही नाश होता है । शान्त तथा मौन होकर एकान्त में अपने ही द्वारा स्वयं निज ज्ञान के प्रकाश में अनुभव करो कि किसी भी काल में मेरा कुछ नहीं हैं । सर्वांश में ममता का नाश होते ही निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है । थोड़ी–थोड़ी देर बाद मूक भाषा में सर्व–समर्थ प्रभु की महिमा स्वीकार करते हुए प्रार्थना करते रहो कि मुझे अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी आत्मीयता प्रदान करें । आत्मीयता प्राप्त होते ही स्वतः अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता प्राप्त होगी । यह अनन्त का अनुपम विधान है । श्रद्धा–विश्वास के द्वारा ही सर्व–समर्थ प्रभु में आत्मीयता स्वीकार होती है, पर विश्वासी साधक को भी विचारपूर्वक निर्मम तथा निष्काम होना ही पड़ता है, कारण कि जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए वही प्यारे प्रभु को अपना मान सकता है, और उसी को प्रेम की प्राप्ति होती है । प्रार्थना ही निर्बल का बल है । प्रार्थी को अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है । महिमा स्वीकार करना और अपनी माँग को सबल बनाना ही सफलता का मूल मंत्र है । जहाँ रहें प्रसन्न रहें, जो करें ठीक करें । सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्यारे प्रभु के होकर रहें ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

१२५

मुजफ्फरनगर

कर्त्तव्यनिष्ठ प्रभु–विश्वासी दुलारी बेटी, २७–६–१९६७

तुम्हारे दोनों पत्र मुझे मिल गये । तुम सोचोगी कि प्रथम पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया । देखो बेटी, पत्र सुनने पर जो भाव उत्पन्न होता है वही उसका सच्चा उत्तर है । भाव शब्द की अपेक्षा व्यापक है । इतना ही नहीं, सद्भाव से हृदय बदलता है और सुन्दर–सुन्दर शब्दों का केवल मस्तिष्क पर ही प्रभाव होता है । प्यारी बेटी, पत्र न मिलने पर तुम यह मत समझो कि उत्तर नहीं दिया । तुमने अपने पिता को समर्थ लिखा है । भला बेटी, समर्थ पिता की पुत्री को क्या अधीर होना चाहिए ? तुम्हारे अधीर होने में तुम्हारे पिता का अपमान है । प्यारी बेटी, विचारशील मानव भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाते हैं और व्यर्थ चिन्तन को त्याग वर्तमान को सरस तथा सुन्दर बनाकर भविष्य को उज्ज्वल बनाते हैं।

सभी प्रबन्धकों को आदर दो । यदि कोई बात प्रबन्धकों की तुम न समझ सको तो सत्संग में बैठकर विचार–विनिमय द्वारा निःसंकोच बातचीत करो अथवा प्रबन्धक से ही मिल कर बात करलो। यदि सभी माताओं तथा आश्रम के पूज्य सज्जनों के प्रति तुम्हारे मन में आदर का भाव रहेगा तो सभी के हृदय से तुम्हें सद्भाव तथा प्यार मिलेगा, जो विकास का मूल है । अपने से बड़ों को आदर देना, छोटों को प्यार देना और सरलता तथा सच्चाई का व्यवहार करना अत्यन्त आवश्यक है । पूरी शक्ति लगाकर अध्ययन करो और शान्त, निश्चिन्त तथा निर्भय रहने का स्वभाव बनाओ । मानव सेवा संघ की निर्मल नीति को जानने तथा मानने के लिए अथक प्रयत्नशील रहो । सफलता अवश्यम्भावी है । जो सत्य को अपनाता है वही सर्वोत्कृष्ट जीवन पाता है । तुम इस पत्र को बार–बार पढ़ना और समझने का प्रयास करना।

.....पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१२६)

.....

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, ६–७–१९६७

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला । स्वाधीनता तो आपका जन्मजात अधिकार है । इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए तो मानव–जीवन मिला है, पर स्वाधीनता बलपूर्वक प्राप्त नहीं की जा सकती, विचारपूर्वक निर्मम तथा निष्काम एवं असंग होने से ही साध्य है । जो वास्तव में किसी भी काल में अपना नहीं है, उसे अपना न मानना, उसका दुरुपयोग न करना, उसे विश्वरूपी बाटिका की खाद बना देना स्वाधीनता के पुजारी का सहज स्वभाव है । यदि साधक अपने में निर्मम होने की सामर्थ्य न पाता हो, तो उसे मूक होकर स्वाधीनता की आवश्यकता का अनुभव करना चाहिए । जिस भूल से मानव पराधीन हो जाता है वह भूल उसी में है । अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर स्वाधीनता की आवश्यकता अनुभव करने से ही साधक भूल–रहित हो जाता है । सर्व–समर्थ केवल आवश्यकता–भर देखना चाहते हैं, पूर्ति तो उनकी अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है । आवश्यकता का अनुभव करने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात है । आवश्यकता के साथ–साथ जो श्रम–साध्य उपाय है, उसका रस ही उसे स्वाधीनता से विमुख रखता है । सेवा–भाव सबल हो जाने पर सेवा होने लगती है और फिर सेवा का अन्त अपने आप त्याग में तथा प्रेम में हो जाता है । इस दृष्टि से आवश्यकता की जागृति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है ।

स्वाधीनता की आवश्यकता शरीरादि वस्तुओं से असंग कर देती है । पराधीनता को पसन्द करना ही शरीर को अपने से मिला देना है । वे बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्हें पराधीनता असह्य हो जाती है। स्वाधीनता के लिए परिस्थिति–परिवर्तन अपेक्षित नहीं है, कारण कि स्वाधीनता किसी परिस्थिति से प्राप्त नहीं होती । सभी परिस्थितियाँ साधन–सामग्री है । इस कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है । आपका दुःख मेरा अपना दुःख है, कारण कि प्रभु के नाते आप मेरे अपने ही

हैं । स्वाधीनता के लिए पराश्रय तथा परिश्रम की अपेक्षा नहीं हैं । पर–पीड़ा से पीड़ित होकर पर–सेवा के लिए ही पराश्रय तथा परिश्रम साधन–रूप है । अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं, इस वास्तविकता में अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है ।

अपने में से शरीरादि वस्तुओं के सम्बन्ध का दृढ़तापूर्वक त्याग करना है, जो एकमात्र निज ज्ञान से ही साध्य है । साधक की शरीर से स्वरूप की एकता नहीं है, केवल मानी हुई एकता है । वह भी रुचि–पूर्ति के लिए अथवा सेवा–कार्य के लिए । स्वाधीनता–प्रिय साधक में रुचि–पूर्ति का प्रश्न नहीं रहता, कारण कि रुचि–पूर्ति ही पराधीनता है । अब रही सेवा की बात । वह प्राप्त परिस्थिति के अनुसार स्वतः होती है । पर यह रहस्य तब स्पष्ट होता है जब साधक के द्वारा सेवा स्वभाव से होने लगे, बलपूर्वक न की जाय । सेवा प्रेम का क्रियात्मक रूप है । सेवा का अन्त होते ही सेवक प्रेमी हो जाता है और फिर अपने में ही प्रेमास्पद को पाकर साधक कृतकृत्य हो जाता है । जिस प्रकार सेवक की अहंता सेवारूप हो जाती है उसी प्रकार प्रेमी की अहंता प्रेम–रूप हो जाती है । प्रेम में प्रेमास्पद, प्रेमास्पद में प्रेम ओत–प्रोत है, बस यही श्रीराधाकृष्ण का नित्य विहार है । स्वाधीन हुए बिना साधक सेवा और प्रेम का अधिकारी नहीं होता । जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए वही प्रभु को अपना स्वीकार करता है और उसी का जीवन उदारता, समता एवं प्रियता से परिपूर्ण हो जाता है । सर्व–समर्थ प्रभु आपको अपनी आत्मीयता प्रदान करें– यही मेरी सद्भावना है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(१२७)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ११–७–१९६७

मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर अपने ही में से अपने लिए मानव का निर्माण किया है । इस दृष्टि से मानव की जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता केवल उसी प्रभु से

है, जो अद्वितीय है, अर्थात् एक ही है, समर्थ है, सर्वत्र है और सभी का है । अतः तुम्हारा प्रेमास्स्पद सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से तुम्हीं में है और सभी का होने से तुम्हारा भी है, अर्थात् तुम्हारे प्यारे सदैव तुम्हीं में हैं । तुम उन्हीं की प्रीति हो जाओ और कर्त्तव्य कर्म के रूप में प्रत्येक कार्य के द्वारा उन्हीं की पूजा करो और जो कुछ हो रहा है उसे उन्हीं की लीला जानो । उनकी प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, जो मानव की स्वाभाविक माँग है । इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है । यह सद्गुरु–वाक्य है । गुरु–वाक्यमें विकल्प–रहित विश्वास करना ही गुरु–भक्ति है । गुरुभक्त साधक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर सदा के लिए अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है । यह शरणागत साधक का अनुभव है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(१२८)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, १०–८–१९६७

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र मिला, समाचार विदित हुआ । निकटवर्ती प्रियजनों के दोषों को देखकर जो घृणा तथा अरुचि होती है वह तो भूल है । हाँ, हृदय में करुणा होनी चाहिए, उनके हित के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए, और हृदय में पीड़ा होनी चाहिये । इसके अतिरिक्त उनके साथ स्नेह तथा सद्भावना से युक्त व्यवहार रखना चाहिये और यह विचार करना चाहिये कि यदि यह बुराई मुझमें होती तो क्या मैं यह आशा रखता कि दूसरे लोग मुझे घृणा करें । तब तो बराबर मन में यही आती है कि दूसरे लोग मुझे बुरा न समझें, मुझे क्षमा कर दें । जो हम दूसरों से आशा रखते हैं वही हमें दूसरों के साथ करना चाहिए। कभी–कभी ऐसा भी अनुभव हुआ है कि बुराई करने वालों के प्रति भलाई करने से वे बुराई–रहित हो जाते हैं । किसी को बुरा समझना तो बुराई करने से भी अधिक बुरा है । साधक को अधिकार ही नहीं है किसी को बुरा समझने का, किसी को बुरा चाहने का और किसी

के साथ बुराई करने का । अपने गुणों से और दूसरों के दोषों से असंग होना है, कारण कि दोष–रहित होने पर निजानन्द की उपलब्धि होती है । पर यह तभी संभव होगा जब सत्संग के द्वारा दोष–रहित हो जायँ, और गुणों से तादात्म्य न रहे । समस्त विकारों का मूल अपनी भूल है और समस्त दिव्य गुणों की उपलब्धि भूल–रहित होने से ही होती है । शान्त रहने से अपने द्वारा अपनी भूल का अनुभव हो जाता है । भूल का ज्ञान ही भूल मिटाने का अचूक उपाय है ।

साधक का हृदय साध्य के प्रेम से भरा रहना चाहिये । घृणा रखने से प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती । इस दृष्टि से साधक को कभी भी किसी के प्रति घृणा का भाव नहीं रखना चाहिये । प्रभु के नाते, आत्मा के नाते, जगत् के नाते सभी अपने हैं । अपना अपने को स्वभाव से प्यारा लगता है । जिसे सभी प्यारे लगते हैं वही प्रभु–प्रेम पाता है । प्रेम की प्राप्ति के बिना नित–नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती । इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है । यदि तुम सभी को प्यार नहीं दे सकते तो किसी को बुरा समझने का अधिकार ही कहाँ है ? हाँ, सभी से असंग होकर अपने में सन्तुष्ट हो सकते हो । दूसरे को बुरा समझना तो उससे द्वेष पूर्वक सम्बन्ध जोड़ना है। बिना बुराई करे यदि अपने को बुरा बनाना है तो भले किसी को बुरा समझो । इस कारण किसी को बुरा समझना अपने द्वारा अपना विनाश करना है । या तो सभी से असंग होकर अपने में सन्तुष्ट हो जाओ, अथवा सभी में अपने प्यारे प्रभु को देखो, अथवा अपने को देखो, अथवा विश्व–जीवन के साथ एकता स्वीकार करो । संयोग–वियोग विधान के अधीन हैं । इसमें किसी का कोई वश नहीं है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(१२६)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय, २१–८–१९६७

बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला । आत्मा स्वभाव से ही अकर्ता और शरीर पर–प्रकाश्य है । मूक सत्संग मानव का स्वधर्म है, जिसमें

भूल–जनित शरीर की ममता तथा स्वभाव–जनित आत्मा की जिज्ञासा है शरीर में शरीर की ममता नहीं हो सकती और न आत्मा में आत्मा की जिज्ञासा ही हो सकती है, और न आत्मा अनात्मा का मेल ही हो सकता है, क्योंकि दो विरोधी तत्त्व मिलते नहीं । इस दृष्टि से मानव न आत्मा है और न अनात्मा, अपितु जिसने भूल से ममता, कामना, तादात्म्य अनात्मा में कर लिया और जिसमें स्वभाव से जिज्ञासा है वही तुम हो । अतः भूल–रहित होकर निर्मम निष्काम हो जाओ । जिसके होते ही स्वतः जिज्ञासा की पूर्ति होती है और फिर करना कुछ शेष नहीं रहता । यही मूक सत्संग है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । तुम्हारा

.....

(१३०)

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, सितम्बर, १९६७

राम की माया अपार है, उसकी महिमा अनन्त है । रामदास माया से पार, प्रेम को पाकर मस्त हो जाता है और मायादास थपेड़े खाता है । राम मौजूद है, अपने में है, क्योंकि अपना है । उसका प्यार रामदास का जीवन है । रामदास राम को बहुत प्यारा है । उसका दिया हुआ प्यार ही उसको देना है और लेना कुछ नहीं है । उसके प्यार में जो मजा है, वह मजा कहीं नहीं है । अपने को राम को देकर राम को लेलो । बस, सब कुछ बिना ही माँगे मिल जायेगा । तुम उनकी शरणागति प्राप्त करो, इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा

.....

(१३१)

सरदारशहर

मेरे निज–स्वरूप परम उदार साधननिष्ठ प्रियवर, २–१०–१०६७

सप्रेम हरिस्मरण ।

कृपापत्र मिला । क्या कहा जाय, जो बात निज ज्ञान से सिद्ध है मानव उसे भी कर नहीं पाता, और जो आस्था–श्रद्धा–विश्वास से साध्य है उसे भी नहीं अपनाता । निज ज्ञान से निर्मम निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है । इसे प्रत्येक मानव को जीवन में उतारना

ही होगा । तभी देहाभिमान नाश होगा और फिर मान तथा भोग की रुचि सदा के लिए नाश हो जायेगी, तभी मान–अपमान, सुख–दुख आदि से मानव छुटकारा पाएगा । अब रही असमर्थ साधक की बात। उसे सर्व–समर्थ प्रभु की महिमा को स्वीकार कर शरणागत होना ही पड़ेगा । हृदय से मूक प्रार्थना करनी ही पड़ेगी । थोड़ी–थोड़ी देर बाद यह पुकार होती रहे कि हे समर्थ, मुझे अपनालो । अपने प्रेम के योग्य बनालो । आपकी अहैतुकी कृपा के अतिरिक्त मेरा और कोई आश्रय नहीं है । वैधानिक माँग पूरी होती है, ऐसा शरणागत साधकों का अनुभव है । जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय– यह वैधानिक माँग है । इसकी पूर्ति होती है । अतः जब–जब अवसर मिले इस माँग को सबल बनाइये । माँग ज्यों–ज्यों सबल होती जायेगी त्यों–त्यों सभी कामनाओं का नाश स्वतः होता जायेगा । यह अनन्त का मंगलमय विधान है । विधान में अविचल आस्था करना अत्यंत आवश्यक है ।

अपनी दृष्टि में अपने को अपने जानते ठीक रखना है, अथवा अपनी माँग को जगाना है । सफलता अवश्यम्भावी है । दूसरों की दृष्टि में भले कहलाने का संकल्प सदा के लिए निकाल देना चाहिए और सभी को प्रभु के नाते आदर तथा प्रेम देना चाहिए । जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध तो एकमात्र प्यारे प्रभु से ही है । उन्हीं के नाते सभी को आदर तथा प्यार देना है । किसी से कुछ भी आशा नहीं रखनी है । यह आन्तरिक परिवर्तन हो जाने पर ही जीवन में निश्चिन्तता, निर्भयता आती है और फिर सहज भाव से अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है । प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का अनुपम दर्शन करना है । अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानना है और सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का ही होकर रहना है । जिन्होंने उन्हें अपना करके स्वीकार किया वे सदा के लिए चिरशान्ति, अविनाशी, रसरूप जीवन पा गए । सर्व–समर्थ प्रभु आपको अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१३२)

हैदराबाद

मेरे निज–स्वरूप परम उदार प्रियवर, ४–१२–१९६७

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । सर्व–समर्थ प्रभु ने मानव को प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की ही सामर्थ्य दी है, परन्तु मानव असत् का संग कर लोभ, मोह आदि में आबद्ध हो जाता है और फिर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना सम्भव नहीं होता, अनेक प्रतिकूलताएँ आ जाती हैं । ऐसी दशा में मानव अधीर होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, किन्तु अनन्त की अहैतुकी कृपा सदैव मानव के साथ रहती है । भयंकर से भयंकर परिस्थिति आ जाने पर उसे राह दिखाई देती है, जिस पर चलकर वह सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक शरणागति स्वीकार की है । शरणागत के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि शरणागत अपने में अपना कुछ नहीं पाता । शरण्य की अपार करुणा ही उसका सम्बल है । अतः शरणागत शरण्य की अहैतुकी कृपा से सब कुछ पाकर कृतकृत्य हो जाता है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१३३)

राँची

सौभाग्यती कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....सर्व–समर्थ प्रभु के मंगलमय विधान से आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलती । इस कारण जब तक आवश्यकता है शरीर रहेगा ही । वास्तव में तो विचारशील मानव को ज्ञानपूर्वक अपने को शरीर से असंग कर लेना चाहिए । ऐसा करने से सदा के लिए मानव मोह–रहित हो जाता

है और अमरत्व से अभिन्न हो जाता है । इतना ही नहीं, प्राणों के रहते हुए ही निर्मम तथा निष्काम हो जाने पर मानव को निर्विकारता, चिरशान्ति और जीवन मुक्ति प्राप्त होती है । उसके पश्चात् शरीर का रहना तथा न रहना समान हो जाता है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । शरीर द्वारा प्रियजनों की सेवा करते हुए अपने को शरीर से अलग अनुभव करो, जो एकमात्र शान्ति–सम्पादन से ही सम्भव है, जिसके लिए व्यक्तिगत अपना कुछ नहीं है, इस सत्य को अपनाना और निष्काम भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है । निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण निवेदन करना ।

सद्भावना सहित

.....

(१३४)

प्रयाग

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत प्रियवर, २३–१–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....सच तो यह है कि सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आवश्यक वस्तु बिना ही माँगे देते हैं और अनावश्यक वस्तु माँगने से भी नहीं देते हैं । इस कारण शरणागत साधक को प्रत्येक दशा में निश्चिन्त, निर्भय तथा शान्त रहना चाहिए और अपनी वास्तविक माँग को सबल तथा स्थायी करना चाहिए । माँग की जागृति काम का नाश कर स्वतः पूरी हो जाती है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है । वास्तविक माँग बीजरूप से मानवमात्र में विद्यमान है । उसको सत्संग के द्वारा सबल बनाना अत्यन्त आवश्यक है । सद्गुरु–वाक्य के आधार पर सर्व–समर्थ प्रभु की महिमा स्वीकार करो और सदा के लिए अभय हो जाओ । श्रद्धावान् साधक केवल प्यारे प्रभु से ही जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करता है । आत्मीय सम्बन्ध से ही अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है, कारण कि अपने को अपना स्वभाव से ही प्यारा लगता है । जो प्यारा होता है उसकी विस्मृति नहीं होती है । स्मृति स्वभाव से ही अपने को और

प्रभु को नित–नव रस प्रदान करती है । प्यारे प्रभु सदैव होने से अभी हैं और सर्वत्र होने से अपने में भी हैं । सभी के होने से अपने हैं, समर्थ हैं, अद्वितीय हैं । यह सभी आस्तिकों का मत हैं । सभी प्रभु–विश्वासी इस वास्तविकता को अपनाकर अभय हो जाते हैं और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहते हैं । जिन्होंने उनकी महिमा को अपनाया है वे सभी पार हो गये । प्रभु–विश्वास ही प्रभु–प्राप्ति का अचूक उपाय है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्यारे प्रभु की शरणागति स्वीकार की है । शरणागत के जीवन में चिन्ता, भय तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता । शरणागत की सभी समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं, कारण कि शरणागत में शरण्य की मधुर स्मृति स्वतः होती रहती हैं । प्रिय की स्मृति में ही जीवन है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो ।

सद्भावना सहित

.....

(१३५)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २–२–१९६८

शारीरिक अस्वस्थता मेरे विचार के अनुसार प्राकृतिक तप है। उससे देहाभिमान गलाने तथा राग–रहित होने की प्रेरणा मिलती है। उसे अपनाकर आत्मवित् तथा ब्रह्मवित् होने के लिए अथक् प्रयत्नशील रहना चाहिए । शरीर के रहते हुए ही शरीर से अपने को अलग अनुभव कर अमरत्व से अभिन्न होना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मानव–जीवन मिला है । बेचारा देहाभिमानी प्राणी उदारता, समता और प्रियता से विमुख हो जाता है । इस कारण शीघ्रातिशीघ्र देहाभिमान–रहित होना आवश्यक है । देह को बनाये रखने का संकल्प मत रखो, अपितु उसकी यथाशक्ति सेवा करते रहो । शरीर विश्वरूपी वाटिका की खाद है । उसका उपयोग विश्व–सेवा में ही हो सकता है । शरीर के द्वारा सुख–भोग करना भारी भूल है । भोग की रुचि से ही मानव मोह और आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है,

जो विनाश का मूल है । सर्वांश में भोग की रुचि का नाश होने पर मानव योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है । शरीर वासनाओं की क्रीड़ा–स्थली न रहकर संयम का मन्दिर हो जाय । इस माँग को सबल तथा स्थायी करना है । माँग काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है । इस दृष्टि से आवश्यकता की जागृति ही आवश्यकता–पूर्ति में हेतु है । काम दृश्य से सम्बन्ध जोड़ता है और माँग, जो अपने में अपना प्रेमास्पद है उससे अभिन्न करती है । देहभाव से तद्रूप होने पर काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान–रहित होने से काम की निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है । ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि मैं किसी भी काल में देह नहीं हूँ और न देह मेरा है । आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि अपने में अपने प्रेमास्पद सदैव मौजूद हैं । बस, यही सफलता की कुंजी है ।

तुम्हारा

.....

(१३६)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, १८–२–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

.....यह सर्वमान्य सत्य है कि उत्पत्ति–विनाश का क्रम निरन्तर चल रहा है । इस कारण जो दिखाई देता है उसकी स्थिति ही स्थिर नहीं है, तो उसके लिए चिन्तित होना निरर्थक ही है । किन्तु जिससे समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है, जो सर्व का आधार तथा साक्षी है वही अपना है, अपने में है और सदैव है । उसमें ही आत्मीयता स्वीकार कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना है । अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक होती ही है । उसके लिए कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है– यह सभी साधकों का अनुभव है । यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो वास्तव में अपने हैं, अविनाशी होने से सदैव हैं और सदैव होने से अभी हैं, उनमें आस्था न करना, अपने को समर्पित कर अभय न होना अपनी ही बनाई हुई भूल तो है । और जिसकी प्रतीति है, स्थिति नहीं है, प्राप्ति नहीं है, उसमें ममता रखना,

उसकी कामना करना उसके बनाये रखने की सोचना प्रमाद ही तो हैं । सत्संग के द्वारा प्रमाद का अन्त करके अपने को अपने में पाकर सदा के लिए अभय हो जाना अनिवार्य है । जिसे प्राप्त करने को परिश्रम या पराश्रय की अपेक्षा ही नहीं हैं उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता बनाये रखना अपनी ही असावधानी है । यदि साधक अपने को समझा–बुझा कर अपनी बनाई हुई भूल का अन्त कर डाले तो समस्त समस्याओं का हल स्वतः हो जाता है । जिसने सद्गुरु–वाक्य के आधार पर सर्व–समर्थ की शरणागति स्वीकार की, वह सदा के लिए अभय हो गया, अपने में अपने प्रेमास्पद को पा गया । ऐसा मेरा विश्वास है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो । सहज भाव से प्रिय की मधुर स्मृति होती रहे । इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१३७)

ऋषिकेश

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स, १८–४–१९६८

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । यद्यपि शरीर अपने स्वभावानुसार ढीला–ढाला ही चल रहा है, किन्तु कोई चिन्ताजनक बात नहीं है, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय और अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है । प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव–मात्र को दी है, पर मानव अपनी ही भूल से परिस्थिति को ही जीवन मानकर अधीर तथा भयभीत हो जाता है। जीवन अपने में है, 'पर' में नहीं । जो साधक अपने में अपने जीवन को स्वीकार नहीं करता वही पराधीन होकर अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है । साधक विधान से आए हुए दुःख के प्रभाव को अपनाकर अपने को सुख के प्रलोभन से रहित कर सदा के लिए सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हा जाता है और अपने में ही अपने जीवन–धन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है । पर यह

रहस्य वे ही साधक जान जाते हैं जिन्होंने श्रद्धा–विश्वास–पूर्वक दुःखहारी हरि को स्वीकार किया है, अर्थात् जो शरणागत हो गया है । शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान नहीं रहता । शरणागत अपने शरण्य की महिमा को अपनाकर सदा–सदा के लिए अभय हो जाता है और अपने प्रेमास्पद के पावन प्रेम की सतत आवश्यकता अनुभव करता है और फिर प्रेमास्पद स्वतः प्रेम करते हैं, यह प्रेमास्पद का स्वभाव है ।

प्रेम की माँग ही वास्तविक माँग है । जिसके पास अपना कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, अपितु प्रभु–विश्वास ही जिसका सब कुछ है वह विश्वासी साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस जीवन को पा जाता है जो कभी भी किसी भी महामानव को मिला हो । प्रभु–विश्वासी के जीवन में प्रभु–विश्वास ही सब कुछ है । जिसने उसे अपना लिया उसने सब कुछ पा लिया । इतना ही नहीं, सर्व–समर्थ प्रभु अपने विश्वास के अधीन हो जाते हैं । प्रभु साध्य हैं और उनका विश्वास साधन है । साधक साधन से अभिन्न होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है, यही प्रभु–विश्वासी साधकों का अनुभव है । प्रभु के नाते जिसकी सेवा बन सके, कर दो । पर सबसे बड़ी सेवा तो यह है कि असमर्थ सर्व–समर्थ के विश्वास को पाकर अभय हो जाये । .....धन जीवन का आधार नहीं है, सर्वाधार ही आधार है, इस वास्तविकता को अपनाना अनिवार्य है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१३८)

ऋषिकेश

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, ८–५–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत मधुर स्नेह ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुए । शरणागत साधक सदैव अपने परम उदार परम सुहृद् प्रेमास्पद की गोद में निश्चिन्त तथा निर्भय खेलता है । उसे अपने लिए कुछ भी करना

शेष नहीं रहता और न प्रेमास्पद प्रभु से भिन्न उसकी कोई माँग ही रहती है । प्रेम की माँग ही वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति प्रेमास्पद स्वयं ही करते हैं । इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखना और सब प्रकार से प्रेमास्पद का होकर रहना विश्वासी साधक के लिए अनिवार्य है । शरीर तो सदैव ही संसार के साथ है और साधक सदैव साध्य के साथ है, अर्थात् शरीर और संसार की एकता और प्रेमी और प्रेमास्पद की एकता है । संसार अपने प्यारे की ही एक अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं । इस कारण प्रेमीजन संसार के स्वरूप में अपने प्रेमास्पद की ही अनुपम लीला को देखते हैं और स्वयं प्रीति होकर अपने को निछावर करते रहते हैं । प्रीति प्रीतम का स्वभाव है और प्रेमी का जीवन है । अतः सहज भाव से प्रेम की भूख बढ़ती रहे ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१३६)

.....

मेरे निज–स्वरूप प्रियवर, २६–५–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

पराश्रय और परिश्रम से भासित होने वाले सुख का सर्वांश में सदा के लिए त्याग अनिवार्य है । पराश्रय और परिश्रम का सदुपयोग एकमात्र पर–सेवा में ही है । कभी भी किसी भी साधक को अपने लिए पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित नहीं है । पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब विवेक के प्रकाश में 'पर' और 'स्व' का भेद स्पष्ट हो जाय । 'पर' और 'स्व' का भेद स्पष्ट होते ही साधक 'स्व' में नित्यजीवन तथा प्रेमी प्रेमास्पद को पाता है । अशान्त को शान्ति, पराधीन को स्वाधीनता और रस–विहीन जीवन में रस की अभिव्यक्ति सर्वांश में पराश्रय रहित होने से ही होती है । पराश्रय से रहित होने के लिए, मेरा कुछ नहीं है, यह अनुभव अनिवार्य है । 'मुझमें मेरे प्रियतम हैं' इसमें अविचल आस्था भी परम आवश्यक है । 'मेरा कुछ नहीं है' यह ज्ञान 'पर' और 'स्व' में विभाजन कर देता है, जिसके होते ही चिन्मय अविनाशी जीवन से स्वतः एकता होती है । 'स्व', 'स्व' के रूप में तभी

तक भासित होता है जब तक किसी–न–किसी अंश में साधक पराश्रय और परिश्रम में अपना सुख मानता है । अपना रसरूप जीवन सर्वदा अपने में ही है । जब कभी जिस किसी साधक ने जीवन पाया है तो उसने अपने ही में, अपने को मिटाकर पाया है । बस, यही वास्तव में शरणागति है ।

शरणागत अपने को खोता है और अनन्त को पाता है । आरम्भ में अनन्त का योग, बोध और प्रेम ही शरणागत की माँग रहती है । योग, बोध और प्रेम की माँग भोग, मोह और आसक्ति को मिटाकर स्वतः पूरी हो जाती है । माँग का अनुभव करना शरणागत का प्रयास है और उसको पूरा करना शरण्य का सहज स्वभाव है । माँग अनुभव करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है । काम की निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति होती है—इस महावाक्य में अविचल आस्था प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है । काम के सबल होने से माँग में शिथिलता भले ही आ जाय, पर वह नष्ट नहीं होती, किन्तु माँग के सबल होने से काम का सर्वांश में नाश हो जाता है और माँग पूरी हो जाती है, जिसके पूरे होते ही साध्य, साधन और साधक में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती, कारण कि साधन–तत्त्व, जिसमें सभी साधन विलीन होते हैं, साध्य का ही स्वभाव है और उसी से साधक की एकता होती है । जिस प्रकार पराश्रय से स्वतः भोग, मोह और आसक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पराश्रय–रहित होते ही स्वतः योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है । योग अनन्त की महिमा है और बोध अनन्त का स्वरूप है एवं प्रेम अनन्त का सहज स्वभाव है। योग से असमर्थता का नाश होता है और बोध से अमरत्व से अभिन्नता होती है एवं प्रेम से अगाध अनन्त नित–नव रस की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही साधक की माँग सदा के लिए स्वतः पूरी हो जाती है । इस कारण अपनी माँग का अनुभव करना ही एकमात्र माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है ।

आपका

.....

(१४०)

विदुर आश्रम

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, १०–६–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण ।

अनन्त की अहैतुकी कृपा से अनेक अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं का दर्शन करता हुआ यहाँ पहुँच गया । .....भगवत् कृपा का आश्रय ही वास्तव में अभय–पद है । भय–रहित हुए बिना कोई भी साधक वह जीवन नहीं पाता जिसको पाकर फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता । अभय होने के लिए साधक को पराश्रय तथा परिश्रम से रहित होना अनिवार्य है, कारण कि इसके बिना देहातीत जीवन की ओर प्रगति ही नहीं होती । यद्यपि प्रेमियों का प्रेमास्पद, जिज्ञासुओं का तत्त्व–ज्ञान एवं भक्तों का भगवान् सदैव सर्वत्र अपने ही में है । जो अपने में है, उसकी माँग ही उसकी प्राप्ति का अचूक उपाय है । माँग की जागृति के बिना काम का नाश नहीं होता और उसके बिना हुए राम की प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् वास्तविक योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति नहीं होती । योग, बोध, प्रेम में जीवन है । जीवन में ही अपार आनन्द है । जीवन–धन अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं । इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । अपने लक्ष्य से लेशमात्र भी निराश न हो । यह मेरा सुझाव है । अपने में से ममता की जंजीरों को सदा के लिए तोड़ देना है और सर्व–समर्थ की आत्मीयता को स्वीकार करना है ।..... अपने में परिवर्तन हो जाने पर सभी परिस्थितियाँ समान हो जाती हैं । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । सद्भावना सहित

.....

(१४१)

भागलपुर

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २३–६–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....रोग प्राकृतिक तप है । उससे डरो मत । रोग, भोग की रुचि का नाश तथा देहाभिमान गलाने के लिए आता है । इस

दृष्टि से रोग बड़ी आवश्यक वस्तु है । प्रत्येक घटना में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करते हुए सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो । प्रभु–विश्वासी साधक सब कुछ प्रभु के समर्पित कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है, और फिर उसे निरन्तर सर्व–समर्थ प्रभु की लीला का ही दर्शन होता है । उसे प्रत्येक घटना प्रभु की मधुर स्मृति प्रदान करती है । उनकी स्मृति में वास्तविक जीवन है। स्मृति ही योग, बोध, प्रेम के रूप में परिणत हो जाती है । और फिर मानव चिर–शान्ति, मुक्ति तथा भक्ति से अभिन्न हो जाता है । अतः प्रिय की मधुर स्मृति होती रहे, जो एक–मात्र शरणागत होने से ही साध्य है । सभी आवश्यक कार्य स्वतः हो जायेंगे ।

सद्भावना सहित

.....

(१४२)

आगरा

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, १३–१०–१९६८

शरणागत साधक प्रत्येक घटना में अपने परम प्रेमास्पद, परम सुहृद की अनुपम लीला का दर्शन करते हैं । रोग के रूप में कोई और नहीं है, वे ही देहाभिमान गलाने के लिए आये हैं । तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो । सदैव सर्वत्र अपने शरणागतवत्सल प्यारे प्रभु को देखो । सब कुछ उन्हीं का है । उन्हीं के हाथों में उन सभी को सौंप दो जिन्हें कभी भूल से अपना मानते थे । उनके करकमल समर्थ हैं । अतः समर्थ के हाथों में देकर सब प्रकार निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ । सहज भाव से प्रेमास्पद की मधुर स्मृति होती रहे। जिन्होंने उनकी महिमा को अपनाया, वे सभी कृतकृत्य हो गये । उनके हो जाने पर कुछ करना शेष नहीं रहता– यह अनुभव–सिद्ध सत्य है । पुनः तुम दोनों को सद्भावना सहित बहुत–बहुत प्यार । अन्य सभी को सप्रेम हरिस्मरण ।

तुम्हारा

.....

(१४३)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय, २१–११–१९६८

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....जो साधक सब प्रकार से प्यारे प्रभु के ही होकर रहते हैं वे सदैव मेरे ही साथ रहते हैं, कारण कि प्रभु–विश्वास ही गुरु–तत्त्व है । इतना ही नहीं, प्रभु–विश्वासी का प्रभु–विश्वास से भिन्न कुछ भी अस्तित्व नहीं है, अर्थात् प्रभु–विश्वास ही गुरु का वास्तविक स्वरूप है । अतः प्रभु–विश्वास प्रभु–प्राप्ति का अचूक उपाय है । यह शरणागत साधक का अनुभव है । अतः प्रभु–विश्वास को अपनाकर सदा के लिए गुरु–तत्त्व से अभिन्न होकर आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से प्रियतम को सदा ही रस प्रदान करते रहो । प्रभु की अहैतुकी कृपा से निर्मित जीवन प्रभु के काम आ जाय–प्रभु के प्रेम से भर जाय–यह उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । सफलता अवश्यम्भावी है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१४४)

बम्बई

मेरे निज–स्वरूप प्रिय वत्स, ६–१–१९६९

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....मानव–समाज की सर्वोकृष्ट सेवा क्या है, इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि आज मानव–समाज पराधीनताओं में इतना जकड़ गया है कि वह अपने द्वारा अपने को सही मानव प्रकाशित करने में, अर्थात् मानव का वास्तविक जीवन क्या है, इसका उसे स्पष्ट बोध नहीं है । जब तक मानव अपने को अपनी दृष्टि में सही मानव नहीं पायेगा जब तक वह सभी के लिए उपयोगी सिद्ध न होगा । इतना ही नहीं, यदि यह कहा जाय वह अपने लिए भी अनुपयोगी हो जायगा, तो ऐसा मानना यथेष्ट ही होगा । धन के द्वारा, जन के द्वारा, योग्यता के द्वारा जो सेवाएँ

की जाती हैं वे वास्तविक सेवाएँ नहीं हैं, कारण कि इन सेवाओं से परिवर्तनशील वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का ही महत्व बढ़ता है, जिससे मानव वस्तु आदि की दासता में आबद्ध होकर अपने वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है और फिर वह अपने में अपने जीवन–धन को न पाकर अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है । सत्कार्य, सत्चर्चा एवं सत्चिन्तन आदि सत्संग नहीं हैं । सत्संग मानव का स्वधर्म है और चर्चा, चिन्तन आदि पराश्रय और परिश्रम से साध्य हैं । जो पराश्रय एवं परिश्रम से साध्य है उसका विनाश अनिवार्य है । मानव को स्वभाव से अविनाशी जीवन चाहिए । इस माँग की पूर्ति सत्संग से भिन्न और किसी प्रकार से सम्भव नहीं है । इस दृष्टि से मानव सेवा संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा सत्संग–योजना को सजीव तथा व्यापक बनाने में है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१४५)

इलाहाबाद
१५–१–१९६६

मेरे निज–स्वरूप मानवता के पुजारी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....शरणागत की अपनी कोई बात नहीं होती । यह सभी विश्वासी मानव मानते हैं कि मानव–जीवन सर्व–समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा से निर्मित है । जिनकी महती कृपा से यह जीवन मिला है उन्हीं की प्रेरणा है कि मानव, मानव होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाये, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है । सत्संग योजना ही मानव–हितकारी सर्वोत्कृष्ट योजना है ।

यद्यपि मानव सेवा संघ का प्रकाश सनातन सत्य है, परन्तु उसमें प्रवृत्ति उन्हीं भाई–बहिनों की अधिक होती है जिनमें जीवन–सम्बन्धी जिज्ञासा अधिक है, जो विश्वास, विचार तथा कर्त्तव्य तीनों ही दृष्टियों से जीवन की समस्याओं को हल करना चाहते हैं । ... .मानव सेवा संघ की सेवा प्रभु–विश्वासी साधकों की पूजा है और

विचारशीलों की साधना है । भौतिकवादी दृष्टिकोण से मानव–सेवा–संघ, मानव–मात्र का अपना संघ है । निज ज्ञान का अनादर, बल का दुरुपयोग एवं श्रद्धा में विकल्प न करना ही मानव–सेवा–संघ का महामंत्र है, जिसको अपनाकर प्रत्येक मानव उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम से भरपूर होकर सभी के लिए उपयोगी हो सकता है, अर्थात् भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति प्रत्येक भाई–बहिन को हो सकती है । यही मानव सेवा संघ का लक्ष्य है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१४६)

वृन्दावन
२५–१–१९६९

मेरे निज–स्वरूप मानवता के पुजारी साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....जीवन उपयोगी हो जाय, इसी में जीवन की सार्थकता है । उसके लिए सत्संग ही एकमात्र अचूक उपाय है । इस वास्तविकता को अपनाते हुए सत्संग–योजना को सजीव बनाना अत्यंत आवश्यक है । मानव सेवा संघ का प्रकाश अपना लेने पर मानव सभी के लिए उपयोगी हो जाता है । अधिकार लोलुपता से रहित कर्त्तव्यपरायणता, की हुई भूल न दोहराकर वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना एवं परस्पर अनेक भेद होते हुए भी सच्चाई के साथ प्रीति की एकता स्वीकार करना आदि जीवन–तत्त्व हैं । इन्हें अपनाये बिना व्यक्तिगत जीवन में चिर–शान्ति, स्वाधीनता एवं परम प्रेम से भरपूर जीवन नहीं हो सकता । जिसके बिना हुए अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है । इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत सत्संग, पारिवारिक सत्संग एवं सामूहिक सत्संग को अपनाना अनिवार्य है । व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में भेद मानना भारी भूल है । व्यक्ति समाज के अधिकारों का पुंज है, और समाज व्यक्ति का कर्त्तव्य–क्षेत्र है । जगत् और जगत्पति दोनों

ही के अधिकारों को सुरक्षित रखना है । जगत् मानव को उदार और प्रभु, मानव को प्रेम से भरपूर पसन्द करते हैं, इतना ही नहीं, जिसकी स्वाधीनता प्रभु ने मानव को अपनी अहैतुकी कृपा से प्रदान की है—ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है । मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही मानव का परम पुरुषार्थ है । इस अविनाशी सत्य को अपनाने के लिए सजग मानव अथक प्रयत्नशील रहते हैं ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिंचन

.....

(१४७)

वृन्दावन

स्नेहमयी साधननिष्ठ माँ, २६—१—१९६९

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....विचारपूर्वक यह अनुभव करना अनिवार्य है कि सृष्टि में मेरा करके कुछ नहीं है । इतना ही नहीं, मुझे जो कुछ चाहिए वह संसार नहीं दे सकता, तभी मानसिक शान्ति सुरक्षित होगी । जिसके होने से अपने में ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होती है । यह अनन्त का मंगलमय विधान है । अपने में अपना जीवन है । पराश्रय तथा परिश्रम से रहित होने पर इस वास्तविकता का बोध होता है । सच तो यह है कि जो अपने में नहीं है वह अपना नहीं है । अपना वही है जो अपने में है । उसी में अविचल आस्था रहनी चाहिए । अपने में जो जीवन है उसकी उपलब्धि के लिए समर्पण योग अचूक उपाय है । जो साधक लक्ष्य से निराश नहीं होता वह अवश्य सफलता पाता है । ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है । शान्ति के सम्पादन के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए । सफलता अवश्यम्भावी है । शरीर के द्वारा जो प्रयास किया जाता है उससे पराशान्ति नहीं मिलती । किन्तु जो अपने द्वारा किया जाता है उससे अवश्य शान्ति मिलती है। अब विचार करो, मानव अपने द्वारा क्या कर सकता है । मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, एकमात्र सर्व—समर्थ प्रभु ही अपने हैं—यह वास्तविकता मानव अपने द्वारा अपना सकता है । जिसका

अपना कुछ नहीं है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता और जिसे कुछ नहीं चाहिए वह चिर–शान्ति प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से ज्ञान–पूर्वक अचाह होना और जगत् के प्रति उदार एवं प्रभु के लिए प्रेमी होने से ही मानव को लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जीवन का जो सत्य है उसे अपनाये बिना कभी किसी का कल्याण नहीं हुआ। अतः जो सत्य है उसे स्वीकार करना ही होगा। इसकी स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। प्राप्त के उपयोग में ही सफलता है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

.....

(१४८)

.....

१०–३–१९६९

स्नेहमयी साधननिष्ठ मेरी माँ,

सर्वदा सजग तथा शान्त एवं प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। अपना सुख भोगते ही साधक आनन्द से विमुख हो जाता है। शान्ति से भी असंग होना चाहिए। वे छलिया अपने ही में हैं, खोज करने से दूर हो जाते हैं। उनसे भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है उससे विमुख हो जाओ, तो तुम उन्हें अपने ही में पाओगी। अपने, अपने ही में हैं। उन्हें ढूंढो मत, किसी और को पसन्द मत करो। उनसे भिन्न कुछ है नहीं। अतः अचाह, अप्रयत्न हो जाओ। जीवित शरीर भी मृतकवत् समझो। उसके रहने–न रहने से अपना कोई लाभ तथा क्षति नहीं है। शरीर चाहे जिस दशा में पड़ा रहे, अथवा चलता–फिरता रहे, उससे अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। अपने में अपने प्यारे जो प्रभु हैं उन्हीं को प्यार करो, और सब प्रकार से अभय हो जाओ। जो अच्छा लगता है सो रहता नहीं, कारण कि अच्छा लगना उसका भोग है। भोग योग से विमुख कर देता है। अपने को उन्हें दे दो। वे उसका जो चाहें उपयोग करें। अपने प्रति होने वाली भलाई तथा बुराई के आक्रमण से मुक्त रहो। भोग की रुचि नाश होने से योग की प्राप्ति होती है– और योग

का भोग न करने से मोक्ष मिलता है । मोक्ष में सन्तुष्ट न रहने से अगाध अनन्त प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिससे प्रेमास्पद को रस मिलता है । प्रेमी, प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न होता है । प्रेम, प्रेमास्पद का ही स्वभाव है । उसकी माँग प्रेमी का पुरुषार्थ है। अतः प्रेम की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । बस, यही सफलता की कुंजी है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१४९)

नई दिल्ली

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २६–५–१९६९

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....तन, मन, धन आदि सभी वस्तुओं पर सर्व–समर्थ प्यारे प्रभु की सील लगा दो । सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो । अन्तर्यामी रूप से जो प्रेरणा मिले वही करते रहो । किसी के साथ वैरभाव मत रखो । प्यारे प्रभु के नाते किसी का बुरा मत चाहो । शान्त होकर प्यारे प्रभु को पुकारते रहो । प्रार्थना के समान और कोई व्रत नहीं है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो ।

तुम्हारा

.....

(१५०)

नागौर

८–७–१९६९

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रभु–विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन–सामग्री है, जीवन नहीं । सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु के होकर उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने का स्वभाव बनाओ । तो फिर प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म भगवत्–पूजा

हो जायगा और प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदय होगी, जो वास्तविक जीवन है । जीवन की उपलब्धि के लिए ही मानव–जीवन मिला है । भगवत्–सेवा तथा भगवत्–प्रियता से भिन्न प्रभु–विश्वासी का जीवन कुछ नहीं है, अर्थात् सेवा तथा प्रियता में ही जीवन है । प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा और सहज निवृत्ति में प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए, कारण कि प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही मानव–जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र जातीय एकता, नित्य–सम्बन्ध एवं आत्मीयता से ही साध्य है । मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह ज्ञान से सिद्ध है । ज्ञान के आदर में ही असत्य की निवृत्ति एवं सत्य की प्राप्ति निहित है । भक्त–वाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि एकमात्र श्रीहरि ही अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं, अर्थात् सब कुछ प्रभु का है और प्रभु अपने हैं । यह शरणागत साधक का जीवन है। बुराई–रहित होने पर कर्त्तव्यपरायणता और अचाह होने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है । कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए एवं असंगता अपने लिए और आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता से जीवन प्राण–प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी होता है । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१५१)

.....

६–६–१९६६

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

३–६–६६ का लिखा हुआ सरलता तथा सच्चाई से हरा–भरा पत्र मिला । समाचार विदित हुआ । तुमने ठीक ही लिखा है कि नैया मझधार में है । पर भैया, यह न भूलो कि खिवैया साथ है ।

प्रभु–विश्वासी साधक के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है । तुम यह क्यों भूल जाते हो कि प्रत्येक परिस्थिति में, जो तुम्हारा अपना है, वह सदैव तुम्हारे साथ है । अपने में अपने प्रभु के विश्वास को सदैव अनुभव करो । जिसने प्रभु–विश्वास को अपनाया वह स्वयं सदा के लिए अभय हो गया । यह प्रभु–विश्वासी साधकों का अनुभव है । मेरे प्यारे, प्रभु–विश्वास से भिन्न विश्वास निर्जीव है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो, तब तुम अपने को अभय पाओगे । प्रभु–विश्वास से प्रभु–सम्बन्ध स्वतः दृढ़ हो जाता है और फिर सहज भाव से मधुर स्मृति उदय होती है । प्रभु की विस्मृति से ही मानव अभाव अनुभव करता है । जब स्मृति अभिव्यक्त होती है, तब अपने आप अभाव का अभाव हो जाता है और भयहारी प्रभु अभयदान देकर अपनी प्रियता प्रदान करते हैं । उनकी प्रियता से सभी ने रसरूप जीवन पाया है, जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रहता । सुख–दुःख संसार के स्वरूप हैं और साधक के लिए वह साधन–सामग्री है । किन्तु मानव की वास्तविक माँग तो नित–नव अविनाशी अनन्त रस की है, जिसकी उपलब्धि एकमात्र प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध से साध्य है । जो सदैव सभी का अपना है, वह तुम्हारा भी है भाई । फिर क्यों अनाथपन अनुभव करते हो ! प्रभु–विश्वास को अपनाओ और सदा के लिए सनाथ हो जाओ ! सनाथ होकर मिले हुए बल का विधिवत् पूजाभाव से उपयोग करो । सृष्टि का प्रत्येक कार्य प्रभु का कार्य है । अतः प्रभु के कार्य को करते हुए प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो । यह माँग अवश्य पूरी होती है, कारण कि सेवा, त्याग, प्रेम के लिए ही मानव–जीवन मिला है । इस सत्य को कभी मत भूलो । मानव सेवा संघ मानव–मात्र का होने के कारण तुम्हारा भी अपना है । अतः मानव–दर्शन, जीवन–विज्ञान तथा आस्था के तत्त्व को अपनाकर सोई हुई मानवता को जगाओ और सभी के काम आओ । इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१५२)

जोधपुर

मेरे निज–स्वरूप प्रभु–विश्वासी प्रियवर, २३–६–१९६६

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....विधि का विधान अमिट है । प्रभु जैसे राखें वैसे ही रहो। उसी में मंगल है । मानव कामना–पूर्ति में पराधीन और प्रभु–प्रेम की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन हैं– इस विधान में अविचल आस्था करो । प्रभु–प्रेम की प्राप्ति के लिए एकमात्र आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना है, जिसे शरणागत साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर सकता है । प्यारे प्रभु से भिन्न कोई और अपना है ही नहीं, इस वास्तविकता को स्वीकार करो और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो, और उन्हीं के नाते पूजाभाव से पूरी शक्ति लगाकर प्रभु की प्रसन्नतार्थ वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को करते रहो। कर्त्तव्य के अन्त में शान्त हो जाओ। ऐसा होने से स्वतः आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त होगी और आत्मीय सम्बन्ध होने के कारण प्यारे प्रभु की मधुर स्मृति भी जाग्रत होगी । उनकी मधुर स्मृति में रसरूप जीवन है । यह प्रभु–प्रेमी साधकों का अनुभव है । जो सदैव है वही सर्वत्र है और वही समर्थ है । वही सभी का है । अतः वे आपके भी हैं, आपमें भी हैं । अपने में ही अपने प्यारे प्रभु को पाकर सदा के लिए आनन्द–विभोर हो जाओ । यही मेरी सद्भावना है । ..... प्रभु–विश्वासी तथा विवेकीजन शरीर के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त हो जाते हैं, कारण कि उनका जीवन–ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रेम के रस से भरपूर हो जाता है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । सद्भावना सहित

(१५३)

....मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, ५–१०–१९६६

समस्त अध्यात्मवादियों का मत है कि देहाभिमान–रहित होने पर सत्य का साक्षात्कार हो जाता है । इसी मूल सत्य के आधार पर विश्वास–पथ के साधकों की यह अविचल आस्था है कि प्रेम का पान

करने के लिए निर्विशेष तत्त्व, अलौकिक दिव्य शक्तियों से प्रेरित होकर अनन्त परमात्मा अवतरित होता है । पर वह सदा ही देह–धर्म से मुक्त है,कारण कि भगवान चिन्मय तत्त्वों से अपनी लीला करते हैं । उनकी हर वस्तु चिन्मय होती है उनके अवतरण से पूर्व प्रेम–तत्त्व–स्वरूपा श्रीराधारानी अवतरित हुईं । अतः उनके प्रेम का पान करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ । हम भारतीय इसी परम्परा को मानते आ रहे हैं ।

यह सर्वमान्य सत्य है कि कोई भी उत्पत्ति बिना अनुत्पन्न तत्त्व के उत्पन्न नहीं हो सकती और स्वयंप्रकाश के बिना किसी की प्रतीति नहीं होती । अतः जो अनुत्पन्न हुआ स्वयंप्रकाश परम तत्त्व है उसी से दृश्य जगत् प्रतीत हो रहा है, सत्ता पा रहा है, गति पा रहा है। इतना ही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी दृश्य जगत् अव्यक्त ही है । अब पाठक महानुभाव स्वयं विचार करेंगे कि सत्तारूप से व्यक्त और अव्यक्त एक ही तत्त्व है, पर जो अनन्त परमात्मा व्यक्त–अव्यक्त का प्रकाशक है, हम प्रभु–विश्वासियों के लिए अलौकिक दिव्य, चिन्मय रूप से प्रकट होकर प्रेमियों के साथ क्रीड़ा करता है, यहाँ तक कि स्वंय प्रेमी हो जाता है । प्रेमी और प्रेमास्पद का दिव्य चिन्मय विहार ही श्रीकृष्ण का नित्य विहार है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्रेम–तत्त्व की प्राप्ति कि लिए चिर–शान्ति में रमण नहीं किया और मुक्ति से सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु मुक्ति से मुक्त होकर भक्ति–तत्त्व को स्वीकार किया ।

भक्ति–रस एक ऐसा अनुपम अलौकिक तत्त्व है कि जिस रस के लिए भक्त और भगवान् दोनों ही लालायित रहते हैं । सर्व दुःखों की निवृति,चिरशान्ति, जीवन–मुक्ति अपने लिए भले ही उपयोगी हो, परन्तु भक्ति–रस तो भगवान् के लिए उपयोगी है । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् में किसी प्रकार का अभाव है । सब प्रकार से पूर्ण तथा आनन्दघन होते हुए भी भक्ति–रस से आनन्दघन को एक विशेष आनन्द मिलता है ।

भगवान् का अवतार भक्तों के अवतरण के बिना नहीं होता । इससे यह स्पष्ट ही है कि भक्तों के लिए ही भगवान् का अवतार होता

है, कारण कि भक्त लोग विदेह–मुक्ति को ठुकरा कर भक्ति–रस के लिए अनेक प्रतिकूलताओं को अपनाते हैं, किन्तु वास्तव में तो भक्त के जीवन में प्रतिकूलता जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहती । वे तो मिलन में वियोग, वियोग में मिलन नित्य ही अनुभव करते हैं । यदि यह कहा जाय कि प्रेमसिन्धु के मिलन और वियोग दो तट हैं और कुछ नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी । कारण कि प्रेम दोनों ही दशा में उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है । प्रेम स्वरूप से क्षति, पूर्ति और निवृति से रहित है । निवृति काम की होती है, पूर्ति जिज्ञासा की एवं प्राप्ति प्रेम ही की होती है । प्रेम अनन्त का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है । प्रेम ही घनीभूत होकर भगवान् को रस देने के लिए अनेक भावों के अनुसार अवतरित होता है–यही भगवान् के परिकर कहलाते हैं । मूल रूप से तो सभी में राधा और कृष्ण तत्त्व ही है । प्रेम–स्वरूपा श्रीराधारानी तथा उनके परिकर और आनन्द–स्वरूप श्रीकृष्ण, भाव–भेद के कारण प्रेम–तत्त्व ही आनन्द–परिकरों के रूप में अवतरित होता है, परन्तु एक ही भगवान् सभी प्रेमियों की माँग को पूरी करता है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम प्रेमीजन अजन्मा का जन्मोत्सव मनाते हैं । यदि विश्वास–पथ से साधक महानुभाव जन्मोत्सव के रहस्य को अपनाकर इस प्रेम–राज्य में प्रवेश पाना चाहते हैं, तो सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य व्रत लेकर विवेकपूर्वक देहाभिमान से रहित हो जायँ और भक्तवाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता को जगाएँ, तो उन्हें भगवान् के प्राकट्य का अनुभव हो सकता है, अर्थात् वे भगवान् की दिव्य चिन्मय लीला में प्रवेश पा सकते हैं । यह शरणागत साधकों की अविचल आस्था तथा अनुभव है ।

तुम्हारा

.....

(१५४)

लखनऊ

मेरे निज–स्वरूप प्रभु–विश्वासी प्रियवर, १४–११–१९६९

सप्रेम हरिस्मरण ।

विधि का विधान अमिट है । प्रत्येक परिस्थिति में मानसिक

शान्ति सुरक्षित रखना अनिवार्य है, कारण कि उसके बिना यथेष्ट कर्त्तव्य का बोध नहीं होता । यद्यपि प्रभु के मंगलमय विधान से मानव कर्त्तव्य–पालन में स्वाधीन है, परन्तु लोभ, मोह आदि विकारों के कारण कर्त्तव्यपरायणता में अनेक बाधाएँ प्रतीत होती हैं । ऐसा मेरा अनुभव है । यदि मानव ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम एवं असंग हो जाय, अथवा आस्था–श्रद्धा–विश्वास पूर्वक शरणागत हो जाय तो फिर कर्त्तव्य–पालन में कोई कठिनाई नहीं रहती–ऐसा विचारशीलों का अनुभव है। सभी के प्रति सद्भावना रहनी चाहिए और किसी से कुछ भी आशा नहीं रखनी चाहिए । इतना ही नहीं जहाँ तक हो सके बुराई का उत्तर भलाई से, कटुता का उत्तर मधुरता से ही देना चाहिए । यह तभी सम्भव होता है, जब मानव सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का होकर रहता है और उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता है । सच तो यह है कि सर्व–समर्थ श्रीहरि ही अपने हैं। उन्हीं से जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध है। उनकी प्रियता में ही जीवन है । सब कुछ उनका है और वे अपने । इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखनी चाहिए । उनके अस्तित्व में ही संसार का अस्तित्व विलीन हो जाय । उनकी महिमा को अपनाकर अभय हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है । जहाँ रहें प्रसन्न रहें । प्यारे प्रभु की स्मृति होती रहे । प्रियता की भूख बढ़ती रहे । सफलता अवश्यम्भावी है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१५५)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रियवर, १४–११–१९६६

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

भूल–रहित होने से निर्विकारता, शान्ति और मुक्ति–स्वतः प्राप्त होती है–यह अनुभव–सिद्ध सत्य है । पर विचार यह करना है कि भूल का ज्ञान क्या किसी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राण आदि दृश्य पदार्थ से होता है । तो कहना होगा कि कदापि नहीं । कारण कि वे स्वयं अपने को आप प्रकाशित नहीं कर सकते । तो उनके द्वारा भूल का अनुभव कैसे होगा ? जिस ज्ञान से साधक यह अनुभव करता

है कि शरीर और संसार में अविभाज्य सम्बन्ध है, शरीर को संसार की सीमा से बाहर नहीं ले जाया जा सकता, इतना ही नहीं, शरीर की सुरक्षा के लिए खुराक, औषधि आदि संसार के ही पदार्थ हैं, समष्टि शक्तियों के बिना क्या शरीर की सीमित शक्तियाँ काम कर सकती हैं ? तो सभी वैज्ञानिक कहेंगे, नहीं । जिस ज्ञान से इस वास्तविकता का अनुभव हुआ, क्या वह ज्ञान किसी भौतिक तत्त्व से निर्मित है ? यदि ऐसा होता तो वह ज्ञान हमें प्रेरणा न देता कि सृष्टि पर तुम्हारा स्वतंत्र अधिकार नहीं है । जिस पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं होता उसमें ममता करना, उसकी कामना करना, उससे अपने को मिलाकर रखना भारी भूल है । इस भूल का अनुभव कर, भूल–रहित होने पर, साधक को निर्विकारता, शान्ति और जीवन–मुक्ति प्राप्त होती है । इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि ज्ञान से मानव निर्विकारता, शान्ति, मुक्ति पाता है और ज्ञान एक अविनाशी, अनुत्पन्न हुआ नित्य तत्त्व है । उसके आदर में ही मानव की स्वाधीनता है । अतः मानव ज्ञानपूर्वक निर्विकारता, शान्ति और मुक्ति का सम्पादन कर सकता है । उस ज्ञान के साथ–साथ मानव को बल, अर्थात् विज्ञान और आस्था का तत्त्व भी प्राप्त है ।

बल से कर्त्तव्य की प्रेरणा मिलती है, और ज्ञान से निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त होती है तथा आस्था से उस अनन्त की स्वीकृति होती है विज्ञानरूपी बल, ज्ञानरूपी प्रकाश जिसकी महिमा है । ज्ञान–विज्ञान का सदुपयोग करने पर आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक अनन्त में आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से प्रेम–तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है । विज्ञान का सदुपयोग जगत् के लिए और ज्ञान का सदुपयोग अपने लिए और आस्था का सदुपयोग प्रेम–तत्त्व से अभिन्न होकर परमात्मा के लिए उपयोगी होता है । इस दृष्टि से मानव–जीवन सभी के लिए उपयोगी हो सकता है । उसे केवल मिले हुए बल, ज्ञान एवं आस्था के तत्त्व का सदुपयोग करना है । मिले हुए का सदुपयोग सुगमतापूर्वक हो सकता है । इस दृष्टि से मानव–जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान नहीं है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१५६)

इलाहाबाद
१४–१–१९७०

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....प्राणों के रहते हुए ही सजग साधक को विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर निर्विकारता का सौन्दर्य तथा निष्कामता का ऐश्वर्य एवं आस्था–श्रद्धा–विश्वास–पूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीयता स्वीकार कर अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता से अभिन्न हो जाना चाहिए । यही मानव–जीवन का परम लक्ष्य है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्व–समर्थ श्रीहरि ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव का निर्माण किया है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो और सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो, उन्हीं का कार्य करो, उन्हीं में वास रहेगा, यह अनुभव–सिद्ध सत्य है । सत्य को स्वीकार करना मानव का स्वधर्म है । सत्य को स्वीकार करने से असत्य का त्याग स्वतः हो जाता है । यह सभी साधकों का मत है। असत्य के त्याग से अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति का नाश होता है और सत्संग से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता प्राप्त होती है । कर्त्तव्यपरायणता अथवा उदारता से जीवन जगत् के लिए तथा असंगता से जीवन अपने लिए एवं आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है, यही मानव–जीवन की पूर्णता है, जिसे प्रत्येक मानव सत्संग के द्वारा प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार मानव–जीवन के महत्त्व को अपनाकर मानव–मात्र को सत्संगी होना अनिवार्य है । प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार निवेदन करना । पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१५७)

राँची

मेरे निज–स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर, २२–६–१९७०

सप्रेम हरिस्मरण ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । हर्ष की बात है कि तुम सन्तों के बीच एकान्त वास कर रहे हो । सन्त के संग के समान और कोई आनन्ददायक अचूक उपाय नहीं है । किसी सन्त की वाणी है कि–

"जो सुख साधु संग में, सो बैकुण्ठ न होय ।"

सन्त जन स्वभाव से ही असत्य के त्यागी तथा सत् के संगी होते हैं । उनकी वाणी सदैव सत्संग की प्रेरणा देती है । विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग ही वास्तविक सत्संग है । सत्संग से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता तथा आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है । कर्त्तव्यपरायणता से चिर–शान्ति तथा असंगता से जीवन–मुक्ति एवं आत्मीयता से परम प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है । इसके होते ही मानव कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा मेरा अनुभव है ।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । सर्व–समर्थ प्रभु के होकर अभय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ,

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१५८)

राँची

भक्तिमती स्नेहमयी, ११–७–१९७०

सप्रेम हरिस्मरण ।

मेरे जानते अध्ययन–कार्य करने वालों को योग्यता–सम्पादन के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, कारण कि शिक्षित होने पर ही शिक्षार्थियों की उचित सेवा हो सकती है । शारीरिक योग्यता आदि

का बल समाज के काम आता है, पर यह रहस्य कोई बिरले ही जानते हैं । बल संसार के लिए, ज्ञान अपने लिए एवं आस्था का तत्त्व प्रभु के लिए मिला है । बल के सदुपयोग से जगत् की सेवा करो और ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाओ एवं आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर भक्त हो जाओ । मानव–जीवन सभी के लिए उपयोगी है, यह इस जीवन की महिमा है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो । जिन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव का निर्माण किया है वे परम स्वतंत्र, परम उदार एवं परम प्रेम से भरपूर हैं । उन्होंने उन्हीं मूल तत्त्वों से मानव की रचना की है । अतः मानव भी उदार, स्वाधीन तथा प्रेम से भरपूर हो सकता है । पर यह तभी संभव होगा जब जीवन का सत्य वह स्वीकार करे ।

अब तुम स्वयं विचार करो कि जीवन का मूल सत्य क्या है ? क्या तुम निज ज्ञान के द्वारा यह अनुभव नहीं करती हो कि शरीर आदि किसी भी वस्तु के साथ तुम सदैव रह नहीं सकती हो और न कोई वस्तु ही तुम्हारे साथ सदैव रह सकती है । इस वास्तविकता से यह प्रकाश मिलता है कि प्रत्येक मानव को समस्त सृष्टि से निर्मम, निष्काम एवं असंग होना अनिवार्य है, जिसे मानव स्वयं कर सकता है, जिसके लिए किसी भी पराश्रय एवं परिश्रम की अपेक्षा नहीं है । जो तथ्य ज्ञान से सिद्ध है उसके अपनाने में मानव स्वाधीन है । इतना ही नहीं, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से निर्मम होने पर ही उनके द्वारा यथाशक्ति शरीर परिवार एवं समाज और संसार की सेवा हो सकती है । विधिवत्, पवित्र भाव से की हुई सेवा का अन्त त्याग में और त्याग की पूर्णता बोध में एवं बोध की पूर्णता स्वयं प्रेम में हो जाती है ।

कर्त्तव्य–पालन का फल योग है । योग की पूर्णता होने पर स्वतः बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम निहित है । इस दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य कर्म से मानव को योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है । योग में चिर–शान्ति, बोध में मुक्ति एवं प्रेम में भक्ति निहित है । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने बल का उपयोग जगत्

के लिए, ज्ञान का अपने लिए और विश्वास का प्रभु के लिए किया है । कर्त्तव्यनिष्ठ, विवेकी और विश्वासी होकर ही मानव सभी के लिए उपयोगी होता है । जीवन किसी के लिए अनुपयोगी न हो, अपितु सभी के लिए उपयोगी हो जाय, इसी में मानव–जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता है । इस माँग को सबल बनाओ । माँग के सबल होने से काम का नाश और काम का नाश होने से माँग की पूर्ति स्वतः होती है । यह अनन्त का मंगलमय विधान है । विधान में अविचल आस्था करना अनिवार्य है ।

जब मानव यह स्वीकार सकता है कि मेरी वास्तविक माँग पूरी हो सकती है तब माँग स्वतः सबल होकर काम को खाकर अपने आप पूरी हो जाती है, अर्थात् काम की निवृत्ति, माँग की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में मानव–मात्र का जन्मजात अधिकार है । इस सत्य में विकल्प–रहित आस्था करो । इसके अतिरिक्त यदि किसी को कुछ और चाहिए तो वह सदा के लिए सभी के लिए संभव नहीं है । जो संभव नहीं है उसके लिए आवश्यकता अनुभव करना भूल है । सजग मानव उसी की आवश्यकता महसूस करते हैं जो सभी के लिए और सदा के लिए संभव है । भोग, मोह और आसक्तियों की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति मानव–मात्र के लिए संभव है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो । पुनः सद्भावना–सहित बहुत–बहुत प्यार ।

सद्भावना सहित

.....

(१५६)

राँची

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत प्रिय वत्स, ११–७–१९७०

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....सच तो यह है कि शरीर के रहते हुए ही विचारपूर्वक शरीर से असंग होना अनिवार्य है और यही वास्तविक आरोग्य है । शरीर से किसी भी काल में जातीय सम्बन्ध नहीं है, केवल सेवा–कार्य के लिए काल्पनिक सम्बन्ध है । जिससे काल्पनिक सम्बन्ध है उसे कभी भी अपने लिए नहीं मानना चाहिए । शरीर न तो अपना है और न

अपने लिए इस वास्तविकता का अनुभव करो और देहातीत जीवन से अभिन्न हो जाओ । यही मानव का पुरुषार्थ है । देहातीत जीवन में किसी प्रकार का अभाव, पराधीनता एवं नीरसता नहीं है । इतना ही नहीं, देहातीत होने पर ही योगी परम तत्त्व से, विवेकी निज–स्वरूप से और प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न होते हैं । इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को देहाभिमान से रहित होने के लिए ज्ञान–पूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है ।

ज्ञान का प्रकाश और आस्था–तत्त्व मानव को अपने रचयिता से स्वतः प्राप्त है । शरीर तो उसे केवल विश्व–रूपी बाटिका की सेवा करने के लिए मिला है, अपने लिए नहीं । अपने लिए तो निज ज्ञान है, जिससे मानव जब चाहे तब निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है । स्वाधीन होने पर ही आस्था–श्रद्धा–विश्वास–पूर्वक सर्व–समर्थ प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध सजीव होता है । आत्मीय सम्बन्ध से ही अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है । अतः ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि विश्व में मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए एवं भक्तवाणी के आधार पर आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक स्वीकार करो कि प्यारे प्रभु मेरे अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं । अपने होने से अपने को अत्यन्त प्रिय हैं और अभी होने से वर्तमान में ही प्राप्त हो सकते हैं । अपने में होने से किसी प्रकार के श्रम–साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है । जो विश्वासी साधक सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं और वर्तमान कर्त्तव्य कर्म के द्वारा उन्हीं की पूजा करते हैं, वे उन्हीं में वास पाते हैं, यह अनुभव–सिद्ध सत्य है ।

जिस जीवन की वर्तमान में उपलब्धि हो सकती है उसके लिए भविष्य की आशा करना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है । प्रभु से भिन्न किसी और की सत्ता नहीं है । वर्तमान में उन्हीं की प्राप्ति होती है जो सदैव, सर्वत्र, सभी के हैं । इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो । प्रभु–विश्वास ही प्रभु–प्राप्ति का एकमात्र अचूक उपाय है । पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने विचारपूर्वक अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग कर

आस्थापूर्वक प्रभु–विश्वास तथा प्रभु–संबंध को अपनाया है । आस्था आस्थावान से ही प्राप्त होती है, अर्थात् प्रभु–विश्वास प्रभु–विश्वासियों की ही देन है । एक–एक विश्वासी साधक से अनेकों व्यक्तियों को विश्वास प्राप्त होता है । पर सबसे पूर्व प्रभु–विश्वास प्रभु की अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त हुआ होगा । जो साधक ज्ञानपूर्वक जगत् के विश्वास से मुक्त हो जाते हैं उनके जीवन में भी प्रभु–विश्वास की अभिव्यक्ति होती है । जगत् का विश्वास, जो विवेक–विरोधी है, प्रभु–विश्वास में बाधक है, जगत् नहीं । बेचारा जगत् तो सदैव प्रभु की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा देता रहता है ।

जगत् जिनकी रचना है वे अपने हैं । जगत् अपना नहीं है । जो अपना नहीं है उसके प्रति उदार होना अनिवार्य है, पर जो अपने हैं उनका प्रेमी होना अनिवार्य है । जो प्रभु का प्रेमी है वह स्वभाव से ही जगत् के प्रति उदार हो जाता है और जो उदार है वह प्रेमी होने का अधिकारी हो जाता है । उदार तथा प्रेमी होने के लिए स्वाधीन होना अनिवार्य है । स्वाधीन होने के लिए मानव को ज्ञान का प्रकाश बिना माँगे ही मिला है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव के रचयिता का संकल्प है कि मानव उदार तथा प्रेमी हो जाय । अपने रचयिता के संकल्प में अपने सभी संकल्प विलीन करना वास्तविक शरणागति है । यह शरणागतों का अनुभव है । बिना जाने गुरु वाक्य के आधार पर प्रभु के अस्तित्व और महत्त्व एवं उनमें अपनत्व को स्वीकार करना विश्वासी साधक के लिए महामंत्र है ।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो । सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए उनकी प्रियता की भूख बढ़ाते रहो। सफलता अवश्यम्भावी है । निकटवर्ती सत्संग–प्रेमी तथा प्रियजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना । पुनः तुम्हें बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द । सद्भावना सहित,

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१६०)

वृन्दावन
११–८–१९७०

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण ।

.....जो साधक सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु का होकर रहता है वह सदैव मेरे साथ है, कारण कि उसकी शरीर में अहम्–बुद्धि नहीं रहती । जिसकी शरीर में अहम्–बुद्धि नहीं रहती वह सदैव प्रभु में सभी को पाता है, और सभी में प्रभु को पाता है, यही वास्तविक मिलन है । जिस प्रकार शरीर की सृष्टि से एकता है, उसी प्रकार साधक की साध्य से एकता है । साध्य से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना विश्वास–पथ का मूल मन्त्र है । साधक के अस्तित्व में ही साध्य की मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक साध्य की प्रियता होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है, यह शरणागत साधक का अनुभव है । ज्ञानपूर्वक तीनों शरीरों से असंग होकर विचारक अनन्त से अभेद होता है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक विश्वास–पथ का साधक साध्य की प्रीति होकर साध्य से अभिन्न होता है । ज्ञान का प्रकाश, प्रेम का रस, योग की चिरशान्ति साधक की अपनी माँग है । इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है । इस वास्तविकता में आस्था अनिवार्य है ।

मानवमात्र में स्वभाव से बल, ज्ञान तथा आस्था का तत्त्व मौजूद है । बल का सदुपयोग विश्व की सेवा में होना चाहिए और ज्ञान–पूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर निर्विकारता, चिरशांति एवं जीवन–मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए । इस दृष्टि से ज्ञान अपने लिए उपयोगी है । परन्तु ज्ञान का प्रकाश जिस अनन्त की देन है उसकी शरणागति स्वीकार कर प्रियता होकर जीवन उनके लिए उपयोगी होना चाहिए । निर्विकारता और चिरशान्ति में रमण न करने से स्वतः मुक्ति प्राप्त होती है । पर प्रेमीजन मुक्त होकर भक्ति प्राप्त करने के लिए मुक्ति से मुक्त होना पसन्द करते हैं । पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर सदा के लिए

निश्चिन्त, निर्भय तथा प्रियता से भरपूर हो गये हैं । कर्त्तव्यपरायणता का अन्त योग में, योग की पूर्णता बोध में होती है । बोध–रूपी फल प्रेम–रस से परिपूर्ण है । इस दृष्टि से मानव–जीवन की पूर्णता शांति, मुक्ति एवं भक्ति में ही है । मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही जीवन का लक्ष्य है । सत्संग के द्वारा सभी साधकों को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, यह अनुभव–सिद्ध सत्य है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, इसी सद्भावना के साथ सभी को सप्रेम यथोचित और तुम्हें बहुत–बहुत प्यार ।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१६१)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रियवर, १४–८–१९७०

सप्रेम हरिस्मरण ।

प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहने का स्वभाव बनाओ । अपने सभी संकल्प सर्व–समर्थ प्रभु के समर्पण कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ । यही अचूक उपाय है जीवन की समस्याओं को हल करने का । आई हुई कठिनाईयों से डरो मत, अपितु उनको हर्षपूर्वक सहन करो । प्रभु–विश्वासी साधक प्रत्येक घटना में सर्व–समर्थ प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करता है और सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर सदा के लिए अभय हो जाता है । श्रद्धास्पद तथा विश्वास–पात्र एकमात्र श्रीहरि ही है । उनसे भिन्न किसी से भी जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता नहीं हो सकती, अर्थात् एकमात्र प्यारे प्रभु ही अपने हैं । उन्हीं में अखण्ड प्रियता रहनी चाहिए । जिस शरणागत साधक ने सोई हुई स्मृति तथा प्रियता को जगाया उसने सब कुछ पाया । यह प्रभु–विश्वासी साधकों का अनुभव है ।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । वह जीवन नहीं है, अपितु साधन–सामग्री है, और कुछ नहीं । अतः जो परिस्थिति आती जाए उसी का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सदुपयोग करते रहो । यही

सफलता की कुंजी है । तुम अपनी ओर से किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान मत करो, शान्त रहो ।

प्यारे प्रभु के अतिरिक्त तुम्हारा और कोई हित–चिन्तक नहीं है । उनके विधान का आदर करो और मस्त रहो । प्रत्येक साधक के प्रति प्यारे प्रभु की कृपालुता, जगत् की उदारता एवं सत्पुरुषों की सद्भावना सदैव रहती है । इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। तुम एक वीर साधक हो । तुम्हें किसी परिस्थिति में अधीर नहीं होना चाहिए । प्रभु के मंगलमय विधान में विश्वास करो । उसका आदर करो । सफलता अवश्यम्भावी है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

.....

(१६२)

वृन्दावन

२२–६–१९७०

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रभु–विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

.....जो प्रभु–विश्वासी सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर रहता है और उन्हीं का काम करता है उसका सदैव उन्हीं में वास होता है, यह अनुभव–सिद्ध सत्य है । यह सब प्रभु–विश्वासियों का मत है कि प्रभु सदैव सर्वत्र होने से अभी अपने में हैं और सद्गुरु–वाक्य के द्वारा यह सुना है कि वे अपने हैं । अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता है । अतएव प्रभु अपने प्रिय हैं । जिसका कोई प्रिय है उसके जीवन में कभी नीरसता नहीं आती, अर्थात् उसका जीवन नीरसता से रहित हो जाता है । नीरसता का नाश होते ही निष्कामता स्वतः आ जाती है । निष्कामता में समता, स्वाधीनता स्वतः सिद्ध है, जो जीवन की माँग है । समता प्राप्त होने पर नित्य–योग और स्वाधीनता प्राप्त होने पर बोध अवश्यम्भावी है । विषमता रहते हुए बोध की प्राप्ति नहीं होती।

इस दृष्टि से समता और स्वाधीनता का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र निष्कामता से ही सिद्ध है । अनन्त की यह कैसी अनुपम अद्वितीय महिमा है कि निष्काम होने में कोई पराधीन तथा असमर्थ

नहीं है । जीवन का जो मूल्यवान तत्त्व है वह प्रत्येक मानव को अनन्त की अहैतुकी कृपा से नित्य प्राप्त है । इस कारण जीवन के मूल तत्वों की खोज करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग–योजना से ही सम्भव है । प्रभु की दी हुई विशेषता को कहीं व्यक्तिगत मत मान लेना, नहीं तो भारी भूल हो जाएगी, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है । निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार निवेदन करना । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१६३)

राँची

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रिय वत्स, ८–७–१९७१

सप्रेम हरिस्मरण । सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

.....प्रभु–विश्वासी शरणागत साधक मुझसे कभी भी दूर नहीं है, कारण कि प्रभु–विश्वास ही शरणागत का निज–स्वरूप है । जिसने उसे अपनाया उसने मुझे पाया । अब रही शरीर की बात । वह तो सदैव ही मुझसे भिन्न है । इतना ही नहीं, शरीर सदैव नहीं रह सकता। वह तो सदैव संसार में ही रहता है । इस दृष्टि से शरीर का कभी सदैव संसार में ही रहता है । इस दृष्टि से शरीर का कभी मुझसे मिलन ही नहीं हुआ । अपने में अपने प्रेमास्पद हैं । बड़े ही आश्चर्य की बात है कि जिससे कभी मिलन नहीं हुआ वह मिला हुआ भासता है और जिनसे कभी दूरी, भेद, भिन्नता है ही नहीं, उन्हें साधक दूर मान बैठता है । सभी प्रभु–विश्वासियों ने यह स्वीकार किया है कि सर्व–समर्थ प्रभु सदैव होने से अभी और सर्वत्र होने से अपने में एवं सभी के होने से अपने हैं, अर्थात् अभी अपने में प्रेमास्पद हैं । जिसने इस वास्तविकता को अपनाया वह अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो गया । यह प्रभु–विश्वासी शरणागत साधकों का अनुभव है । अनुभव के आदर में ही जीवन का आदर है । शरीर, संसाररूपी

सागर की एक लहर है । सागर और लहर, दोनों में सत्ता जल की ही है, अर्थात् जल से भिन्न लहर और सागर कुछ है ही नहीं । जलस्वरूप परम प्रेमास्पद ही अपनी महिमा में आप खेल रहे हैं । जिन्होंने उन्हें अपनाया, वे सभी अपने में उन्हें पाकर आनन्द–विभोर हो गये । जीवन का जो सत्य है उसे स्वीकार करो और अभय हो जाओ । यही मेरी सद्भावना है । निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण निवेदन करना । प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो । यही सफलता की कुंजी है। प्रेमीजन सदैव प्रेमास्पद में ही रहते हैं, कारण कि प्रियता प्रियतम से सदैव अभिन्न है । प्रियता ही प्रेमियों का जीवन तथा प्रेमास्पद का स्वभाव है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही अभिव्यक्त होती है । सर्व–समर्थ प्रभु तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा अकिंचन

.....

(१६४)

नागौर

८–६–१९७१

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रभु–विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई समाचार विदित हुआ । जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन–सामग्री है, जीवन नहीं । सब प्रकार से सर्व–समर्थ प्रभु के होकर उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने का स्वभाव बनाओ, तो फिर प्रत्येक कर्म भगवत्पूजा हो जायगी और प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदय होगी, जो वास्तविक जीवन है । जीवन की उपलब्धि के लिए ही मानव–जीवन मिला है । भगवत्–सेवा तथा भगवत्–प्रियता से भिन्न प्रभु–विश्वासी का जीवन कुछ नहीं है, अर्थात् सेवा तथा प्रियता में ही जीवन है । प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा और सहज निवृत्ति में प्रियता

उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए, कारण प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही मानव–जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता से ही साध्य है । मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह ज्ञान से सिद्ध है । ज्ञान के आदर में ही असत्य की निवृत्ति एवं सत्य की प्राप्ति निहित है । भक्तवाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि एकमात्र श्रीहरि ही अपने हैं, अपने में है, अभी हैं, अर्थात् सब कुछ प्रभु का है और प्रभु अपने हैं, यह शरणागत साधक का जीवन है । बुराई–रहित होने पर कर्त्तव्यपरायणता और अचाह होने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए, आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता से जीवन प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी होता है। सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१६५)

मुजफ्फरनगर

स्नेहमयी दुलारी बिटिया, १६–६–१६७३

सरलता तथा सच्चाई से लिखा हुआ पत्र मिला । तुम प्रभु–विश्वासी तो हो, पर हाड़–मांस के लोथड़े को सर्व–समर्थ लिखती हो ! क्या वे अन्तर्यामी तुम्हारी इस करतूत को नहीं देख रहे हैं ! आश्रम में रहने से, तुम ईमानदारी से कहो, क्या तुम्हें मोह–रहित प्यार तथा उदारता नहीं मिली ? क्या तुम्हें सच्चाई देखने को नहीं मिली ? क्या तुम्हारी स्नेहमयी.....ने तुम्हें प्यार से नहीं पाला ? इस सत्य को तो तुम्हारा रोम–रोम जानता है । अब तक तुम संकल्प–पूर्ति में लगी रही हो । धीरज–पूर्वक एम० ए० फाइनल कर लो और फिर हरि–आश्रय को लेकर अपने पैरों पर खड़ी हो जाओ, अथवा सेवा–रत हो जाओ । निस्सन्देह अब तुम्हें शरीर–निर्वाह के लिए पराश्रय नहीं लेना चाहिए । अपितु समाज से पोषित शरीर द्वारा समाज की सेवा करनी चाहिए । क्या तुमने अनेक बार नहीं सुना कि स्वाधीन होकर

संघ की सेवा करना ? तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर तो मिलने पर ही होगा । पर बेटी, वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है, यह जीवन का सत्य है । वर्तमान कार्य को पूरी शक्ति लगाकर करती हुई वास्तविक माँग को सबल होने दो । माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है । प्रभु के इस मंगलमय विधान में अविचल आस्था करो, सफलता अवश्यम्भावी है । देखो मुन्नी ! प्रभु से भिन्न और कोई न देखने वाला है और न सुनने वाला । वे ही सभी को देख रहे हैं और सभी की सुन रहे हैं । यह उनका सहज स्वभाव है ।..... यदि कोई कहे कि प्रभु सभी के नहीं हैं, तो फिर कोई और तो है ही नहीं। प्यारी बेटी ! सभी के अपने सदैव प्रभु ही हैं । उनसे भिन्न न कोई है, न हो सकता है । आशा है तुम प्रभु–विश्वासी होकर सदैव के लिए अभय हो जाओगी । यही मेरी सद्भावना है ।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

(१६६)

वृन्दावन
१७–१२–७३

मेरे निज–स्वरूप, प्रभु–विश्वासी, साधननिष्ठ, प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत–बहुत प्यार ।

असंगता निज ज्ञान से, उदारता विज्ञान से और आत्मीयता आस्था से प्राप्त होती है । असंगता निज–स्वरूप से, उदारता विश्व से और आत्मीयता परम प्रेमास्पद से अभिन्न करती है । अभिन्नता में ही रस–रूप जीवन है, जो एकमात्र दर्शन, विज्ञान एवं आस्था से साध्य है । जीवन–दर्शन का ठीक अध्ययन करने पर साधक अकिंचन तथा अचाह हो जाता है और फिर अपने में अपने परम प्रिय प्रेमास्पद को स्वीकार करने की सामर्थ्य आ जाती है । जो अनन्त सदैव होने से अभी और सभी का होने से अपना और सर्वत्र होने से अपने ही मे है, गुरुवाणी तथा वेदवाणी के द्वारा उन्हीं को अपना मानना चाहिए। अपने को अपना मानने में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है और जो किसी भी काल में अपना नहीं है, न हो सकता है, न होगा उसमें अपनापन रखना अपनी ही भारी भूल है, जिसका साधक के

जीवन में कोई स्थान नहीं है । भूल–रहित होने से ही दूरी, भेद, भिन्नता का नाश होता है और स्वतः योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है । मानव–दर्शन के आधार पर हमें शीघ्रातिशीघ्र भूल–रहित हो जाना चाहिए, जिसकी स्वाधीनता मानव के रचयिता से उसे जन्मजात प्राप्त है । मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग से ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है । असंगता, उदारता और आत्मीयता मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग का ही परिणाम है । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आप सभी को मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें । इसी सद्भावना के साथ–

अकिंचन

.....

(१६७)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय, २५–१–१६७४

बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला, समाचार मिला । प्रियजनों की विधिवत् पवित्र भाव से सेवा करने से ममता नाश होती है और वास्तविक माँग का अनुभव करने से कामनाएँ नाश होती हैं । इन दोनों के नाश होने से निर्विकारता और चिर–शान्ति की अभिव्यक्ति होती है । उनमें रमण न करने से अपने ही में अपने प्रेमास्पद का बोध होता है । यह सद्गुरु–वाक्य है ।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो जो करो ठीक करो। सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें जाने हुए असत् के त्याग और जाने हुए सत्य को स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ, अकिंचन

.....

(१६८)

कुम्भ मेला, कैम्प, हरिद्वार

प्रभु–विश्वासी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री, ५–४–१६७४

सप्रेम हरिस्मरण ।

प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो । हृदय में

निर्भयता, चित्त में प्रसन्नता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । यही सफलता की कुंजी है । तुम पवित्र भाव से भगवत्नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो । उसके फल पर दृष्टि मत रखो । कर्त्तव्यनिष्ठ मानव केवल कर्त्तव्य में ही आस्था रखते हैं, फल में नहीं । कर्त्तव्यपरायणता का वास्तविक फल योग है, भोग नहीं । योग का पूर्व पक्ष कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य का उत्तर पक्ष योग है । फलासक्ति तुम्हें भयभीत करती है। अतः उसकी ओर मत देखो । सर्व–समर्थ प्रभु से प्रार्थना करो कि तुम्हारा जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, और तुम्हारे सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जायँ, अर्थात् प्रभु की होकर प्रभु के नाते प्रत्येक कार्य को विधिवत् धीरजपूर्वक शान्त चित्त से करने का प्रयास करो । कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य कर्त्तव्यनिष्ठ साधक को भगवत्–कृपा से स्वतः प्राप्त होती है, यह जीवन का सत्य है । इस सत्य में अविचल आस्था रखो । सत्य को स्वीकार करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है । सत्य को स्वीकार करने से ही साधक में साधना की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है । इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करना ही साधक का स्वधर्म तथा परम पुरुषार्थ है..... ।

मेरा जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, इस माँग के सबल होने से सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है । यह जीवन का सत्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो । आगे–पीछे के चिन्तन से रहित होकर वर्तमान कर्त्तव्य–कर्म विधिवत् करती रहो, सफलता अवश्यम्भावी है । शारीरिक स्वास्थ्य सदैव की भाँति ढीला–ढाला ही चल रहा है । भगवत्–कृपा से सभी आवश्यक कार्य स्वतः हो रहे हैं। जब अपने में अपना कुछ नहीं रहता तभी अपने में परम प्रेमास्पद स्वतः प्रकट होकर अपना प्रेम प्रदान कर अपने से अभिन्न कर लेते हैं । यह उनका सहज स्वभाव है । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें कर्त्तव्यनिष्ठ बनायें– इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

(१६६)

वृन्दावन

मेरे निज–स्वरूप परम स्नेही प्रियवर, २६–६–१६७४

सप्रेम हरिस्मरण ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । हृदय रोग से पीड़ित शरीर के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती..... ।

देखो भाई, परमात्मा में मन लगाया नहीं जाता, लग जाता है। जो साधक ज्ञान–पूर्वक यह स्वीकार कर लेता है कि सृष्टि में मेरा करके कुछ नहीं है वह बड़ी सुगमतापूर्वक निर्मम होने से निष्काम हो जाता है और फिर उसका चित्त शुद्ध तथा शान्त हो जाता है । शुद्ध तथा शान्त चित्त स्वतः भगवान् में लग जाता है । यह जीवन का सत्य है ।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन–सामग्री है, और कुछ नहीं । जो प्रभु–विश्वासी साधक प्रभु के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रस–रूप, चिन्मय जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है । अतः सब प्रकार से सर्वदा सर्व–समर्थ प्रभु के होकर रहो, और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव व सहयोग रखो । तो फिर निःसन्देह तुम्हारा प्रभु में वास रहेगा । यह प्रभु का मंगलमय विधान है । सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता से जाग्रत प्रियता प्रदान करें–इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

(१७०)

गीता भवन

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

बहुत–बहुत प्यार ।

पत्र के रूप में दर्शन हुआ । अधिक व्यस्त रहने के कारण पत्रोत्तर में देरी हो गई । इसमें आपके आठ प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न पर विचार

करने से जो भाव उत्पन्न हुए वे सेवा में प्रकट कर दिए । सारे प्रश्नों का उत्तर एक बार एक पत्र में लिखना मेरे जैसे बे–पढ़े–लिखे आदमी के लिए यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । आशा है आप इसे पढ़कर लाभ उठायेंगे । आपके सन्देह की निवृत्ति तो कुछ दिन साथ रहकर परस्पर बातचीत करने पर ही हो सकती है ।

सत्य की जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होने पर स्वतः पूर्ण हो जाती है, क्योंकि जिज्ञासा जिसके प्रकाश से प्रकाशित है एवं जिसकी सत्ता से सत्ता पाती है वह सब प्रकार से पूर्ण है । यही महामंत्र है सत्य का अन्वेषण करने के लिए । इसमें संदेह करना भूल है । यह भली प्रकार समझा लेना चाहिए कि वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है और उपलब्धि उसकी होती है जो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है ।

प्रत्येक मान्यता के मूल में कोई अनुभूत प्रयोग का होना अनिवार्य है । पर आपने जिस मान्यता का वर्णन लिखा है उसका कोई अनुभूत प्रयोग नहीं लिखा । यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी मान्यता के मानने में सर्वदा स्वाधीन है, पर अपनी मान्यता किसी अन्य से तभी मनवाई जा सकती है जब उसकी योग्यतानुसार मान्यता सिद्ध करने का अनुभूत प्रयोग हो, जिसे विज्ञान की भाँति करके दिखाया जा सके । जब आप अपने प्रश्नों पर विचार करें । आपने एक ही प्रश्न को आठ प्रकार से लिखा है ।

प्रश्न–अचेतन एवं अजीव पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप से अस्तित्व में रहता है, किसी भी ज्ञाता की अनुभूति में न रहते हुए स्वतन्त्र।

उत्तर–जिसे आपने अचेतन एवं अजीव पदार्थ लिखा है, क्या उसमें सतत परिवर्तन नहीं है ? यदि सतत परिवर्तन है तो उसकी स्थिरता एवं संज्ञा पदार्थ के रूप में स्वतन्त्र है, यह कैसे सिद्ध हुआ? गति में स्थिरता का देखना प्रमाद है, वास्तविकता नहीं । परिवर्तन का बोध स्वयं परिवर्तन को नहीं हो सकता । तो फिर ज्ञाता का अभाव कैसा ? प्रत्येक उत्पत्ति स्थिति, लय का आधार क्या होगा ? उत्पत्ति कहो अथवा विनाश, इन दोनों का अर्थ एक है, क्योंकि किसी की उत्पत्ति ही किसी का विनाश और किसी का विनाश ही किसी की

उत्पत्ति होती है । जो पदार्थ उत्पत्ति–विनाश–युक्त है वह क्या अपने को अपने आप प्रकाशित कर सकता है ? यदि अपने को आप प्रकाशित करता है तो उसका विनाश कैसा और उत्पत्ति कैसी ? क्योंकि प्रकाशक अविनाशी होना चाहिए । विनाश बिना सिद्ध हुए उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं हो सकती । उत्पत्ति–विनाश की सिद्धि के बिना स्थिति की चर्चा ही कैसे की जा सकती है ? क्योंकि उत्पत्ति–विनाश के क्रम को ही स्थिति कहते हैं । इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का क्रम जिससे प्रकाशित है वह स्वयंप्रकाश एवं उत्पत्ति–विनाश–रहित अविनाशी है ।

अचेतन अजीव पदार्थो को स्वतन्त्र मान लेने पर उनके विकास में किसी नियम का आरोप नहीं हो सकता, पर ऐसा कोई विकास नहीं है जो किसी–न–किसी नियम में आबद्ध न हो, अर्थात् प्रत्येक परिवर्तन विधान के अनुरूप हो रहा है । इसे यह सिद्ध हो जाता है कि विधान की सत्ता अचेतन अजीव पदार्थो के विकास से पूर्व है । तो फिर अचेतन से चेतन उत्पन्न हुआ, यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? अथवा अचेतन ही कालान्तर में चेतन हो गया, यह कैसे माना जा सकता हे ? केवल क्रियाशीलता को चेतन मान लेना अचेतन को चेतन मानना है । चेतन तो उसी को माना जा सकता है जो अपने को और अपने से भिन्न अचेतन को प्रकाशित करे । हाँ, यह अवश्य है कि अचेतन में अनेक प्रकार और अनेक गुण हो सकते हैं । यहाँ तक कि एक अचेतन दूसरे अचेतन की अपेक्षा चेतन जैसा प्रतीत होने लगता है– यद्यपि अचेतन ही होता है । उदाहरणार्थ लीजिए कि कर्मेन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियों में विशेष चेतना प्रतीत होती है और ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा मन में विशेष चेतना भासती है और मन की अपेक्षा बुद्धि में विशेष चेतना प्रतीत होती है । पर इनमें से कोई भी अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं कर पाते । इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अचेतन में अनेक गुण, अनेक प्रकार होने पर भी स्वयंप्रकाशता नहीं आती, तो फिर अचेतन के परिणाम को चेतन कैसे स्वीकार किया जाय? शेष मिलने पर । पुनः आपको बहुत–बहुत प्यार । ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

आपका

.....

(१७१)

इलाहाबाद

.....

अहैतुकी कृपा से पालित, परम भागवत प्रीति–स्वरूपा,

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो । इसी सद्भावना के साथ सप्रेम हरिस्मरण ।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । समाचार विदित हुआ । जब मानव सत्य की खोज में लग जाता है तब उसका मूल्य संसार से अधिक हो जाता है । यह अनन्त का मंगलमय विधान है । अपने लिए अचाह तथा अप्रयत्न हुए बिना मानव को सत्य की प्राप्ति नहीं होती । उन्हीं का जीवन धन्य है जो अचाह होकर जगत् के लिए उदार और प्रभु के लिए प्रेमी हैं । जो साधक सभी अर्थों में अकिंचन हो जाता है, अर्थात् जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता है और सब प्रकार से अपने को सर्व–समर्थ प्रभु के समर्पण कर देता है, सर्व–समर्थ उसे अपना गोपनीय प्रेम–तत्त्व प्रदान करते हैं । यह प्रेमास्पद का सहज स्वभाव हैं जिन्होंने उनके अस्तित्व, महत्त्व को स्वीकार कर अपने को भोग और मोक्ष से मुक्त कर लिया, वे सभी प्रेम–तत्त्व से अभिन्न हो गये।

जितनी ऊँची मानव की माँग होती है उतना ही ऊँचा उसका जीवन हो जाता है । मानव अपनी भूल से अपने को मल–मूत्र, हाड़–मांस तथा अनेक दुर्गन्धित पदार्थो से भरे शरीर में तथा ईंट–पत्थरों में बाँधकर अपनी दुर्दशा कर लेता है । जो मानव चिरशान्ति, अमरत्व एवं परम प्रेम का अधिकारी है वही मानव अपनी ही भूल से भोग, मोह, आसक्ति में आबद्ध हो जाता है । अपने ही में अपने प्राणाधार, सर्वेश्वर, परम सुहृद् प्रेमास्पद है । उन्हें अपना मानना, पसंद करना सजग मानव का प्रयास है । जब मानव उन्हें अपना मान लेता है तब उन्हीं की अहैतुकी कृपा से अचाह होकर उनके परम प्रेम को पाता है, कारण कि जिसे कुछ नहीं चाहिए उसे परम कृपालु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर योग, बोध, प्रेम प्रदान करते हैं । जिन्होंने उनकी महिमा को स्वीकार किया और सर्वोत्कृष्ट

माँग को अपनी वास्तविक माँग अनुभव किया, वे सभी कुछ पा गये। माँग का अनुभव करना, यद्यपि माँग की पूर्ति में हेतु है, किन्तु योग और बोध की माँग अपने लिए उपयोगी होती है और प्रेम की माँग प्रभु को रस देती है । इतना ही नहीं, योग और बोध प्रेम–तत्त्व के अभिलाषियों को साधन–रूप से प्राप्त हो जाता है । वह उनका साध्य नहीं है । अशान्ति और बन्धन से पीड़ित मानव चिरशान्ति तथा मुक्ति को साध्य मानता है, परन्तु प्रभु–विश्वासी साधक तो एकमात्र प्रेम–तत्त्व की प्राप्ति को ही साध्य मानता है, कारण कि उसे प्रेमास्पद को रस दिये बिना अन्य किसी प्रकार संतोष नहीं होता । अतः प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, सफलता अवश्यम्भावी है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

सद्भावना सहित

.....

(१७२)

अहमदाबाद

मेरे निज–स्वरूप परम प्रिय,

.....श्रम, संयम, सदाचार तथा सेवापूर्वक जीवन व्यतीत करने से बड़ी–से–बड़ी कठिनाइयों पर सुगमतापूर्वक विजय प्राप्त हो सकती है । ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है । प्रत्येक कार्य मोह–रहित भगवत् नाते कर्त्तव्य–बुद्धि से करते रहो । उन सभी प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का अन्त कर दो जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है । जिसका प्रत्येक कार्य सर्वहितकारी भावनाओं से होता है उसी का जीवन सार्थक है । मिले हुए बल का सदुपयोग नवीन बल का सर्वोत्कृष्ट साधन है । जो प्राणी बल से निर्बलों की सेवा करता और निर्बल होने पर प्रभु के निर्भर हो जाता है उसका हित तथा विकास अवश्य होता है..... ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

(१७३)

.....

मेरे निज–स्वरूप परम भागवत प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण ।

अनेक रूपों में प्यारे प्रभु विधिवत् सेवा कर रहे हैं । हर घटना में उनकी महानता, उदारता, प्रियता का दर्शन होता रहे, बस यही मेरी माँग है । वास्तव में तो उनसे भिन्न अपना कोई है ही नहीं । इतना ही नहीं, उनसे भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं है । वे ही अपनी महिमा में आप स्थित हैं और अनेक रूपों में अनुपम लीला कर रहे हैं । प्रत्येक साधक उन्हीं का होकर रहे, उन्हीं को अपना माने । उनकी मधुर स्मृति में ही जीवन तथा रस है । स्मृति आत्मीयता से जाग्रत होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं । आत्मीयता को सजीव बनाने के लिए ज्ञानपूर्वक निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है । जिसका अपना कुछ भी है, वह उन्हें अपना नहीं मान सकता । जिसे कुछ भी चाहिए, वह प्रेमी नहीं हो सकता । प्रेमी वही हो सकता है जिसने अपने में अपना कुछ नहीं रखा और जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिए । इस दृष्टि से निज ज्ञान का आदर करना और आस्था–श्रद्धा–विश्वासपूर्वक भक्तों तथा सन्तों की वाणी के आधार पर एकमात्र प्यारे प्रभु को ही अपना मानना अनिवार्य है । शरीर–धर्म से प्रेम की उपलब्धि नहीं होती। स्वधर्म अर्थात् सत्संग से ही शान्ति, मुक्ति तथा भक्ति की प्राप्ति होती है। व्यक्तिगत कुछ नहीं है– यह सत्य है प्रभु अपने हैं, यह सत्य है । सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है, जो 'स्व' से ही साध्य है, किसी श्रम–साध्य उपाय से नहीं । सभी साधक महानुभावों को सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत–बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.....

असङ्गता निज-ज्ञान से,
उदारता विज्ञान से और
आत्मीयता आस्था से प्राप्त होती है।
असङ्गता निज-स्वरूप से,
उदारता विश्व से और
आत्मीयता परम प्रेमास्पद से अभिन्न करती है।
अभिन्नता में ही रसरूप जीवन है,
जो एकमात्र दर्शन, विज्ञान
एवं आस्था से साध्य है।

—सन्तवाणी

मूल्य—
Rs 25

४००० प्रतियाँ
जनवरी १९९७